दंसणमूलो धम्मो

आत्मधर्म

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र) का मुखपत्र

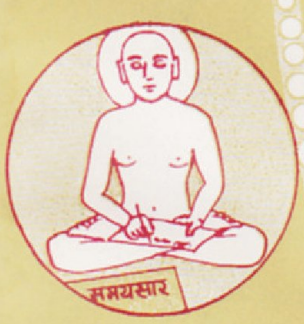

संजमु तसथावर रक्खणेण।
संजमु सुत्तत्थ परिक्खणेण॥
संजमु तणुजोय णियंतणेण।
संजमु बहुगमण चयंतणेण॥

सम्पादक : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
कार्यालय : टोडरमल स्मारक भवन, ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

वर्ष ३३ : अंक ६ [३६०] दिसम्बर, १९७७

आत्मधर्म [३९०]

[शाश्वत सुख का मार्गदर्शक आध्यात्मिक हिन्दी मासिक]

संपादक :
डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल

प्रबंध संपादक :
अखिल बंसल

कार्यालय :
श्री टोडरमल स्मारक भवन
ए-४, बापूनगर, जयपुर ३०२००४

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (भावनगर-गुजरात)

शुल्क :
आजीवन : १०१ रुपये
वार्षिक : ६ रुपये
एक प्रति : ५० पैसे

मुद्रक :
सोहनलाल जैन
जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर

क्या

१ ऐसे जैनी मुनिराज
२ शास्त्राभ्यास की महिमा
३ संपादकीय : उत्तम संयम
४ निश्चयनय से जाने हुये नवतत्त्व ही
[समयसार कलश]
५ नहीं होत अरहंत के....
[नियमसार प्रवचन]
६ द्रव्यसंग्रह प्रवचन
७ ज्ञान-गोष्ठी
८ समाचार दर्शन
९ पाठकों के पत्र
१० प्रबंध संपादक की कलम से

त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा से, शास्त्रों के परिज्ञान से, योगों की चपलता के नियंत्रण से, और बहुत गमन के निरोध से संयम होता है।

- महाकवि रइधू

[मूल छंद मुखपृष्ठ पर दिया गया है]

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का, आत्म शान्ति का, प्रगट करे जो मर्म।
समयसार का सार, सभी को प्रिय, यह आतम धर्म॥

वर्ष : ३३ [३९०] अंक : ६

ऐसे जैनी मुनिराज, सदा उर मो बसो॥टेक॥
जिन समस्त परद्रव्यनि माँहीं, अहँबुद्धि तजि दीनी।
गुण अनंत ज्ञानादिक मम पुनि, स्वानुभूति लखि लीनी॥
ऐसे जैनी मुनिराज०॥१॥
जे निज बुद्धिपूर्वक रागादिक, सकल विभाव निवारैं।
पुनि अबुद्धिपूर्वक नाशन को, अपनी शक्ति सँभारैं॥
ऐसे जैनी मुनिराज०॥२॥
कर्म शुभाशुभ बँध उदय में, हर्ष विषाद न राखैं।
सम्यग्दर्शन ज्ञान चरण तप, भाव सुधारस चाखैं॥
ऐसे जैनी मुनिराज०॥३॥
पर की इच्छा तजि निजबल सजि, पूर्व-कर्म खिरावैं।
सकल कर्म तैं भिन्न अवस्था, सुखमय लखि चित चावैं॥
ऐसे जैनी मुनिराज०॥४॥
उदासीन शुद्धोपयोगरत, सबके दृष्टा ज्ञाता।
बाहिज रूप नगन समताकर, 'भागचंद' सुखदाता।
ऐसे जैनी मुनिराज०॥५॥

शास्त्राभ्यास की महिमा

आचार्यकल्प पंडितप्रवर टोडरमलजी ग्रंथराज 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' की भूमिका में शास्त्राभ्यास की प्रेरणा देते हुये लिखते हैं :—

'हे भव्य हो! शास्त्राभ्यास के अनेक अंग हैं। शब्द का अर्थ का वाँचना या सीखना, सिखाना, उपदेश देना, विचारना, सुनना, प्रश्न करना, समाधान जानना, बारंबार चर्चा करना इत्यादि अनेक अंग हैं-वहाँ जैसे बने वैसे अभ्यास करना। यदि सर्वशास्त्र का अभ्यास न बने तो इस शास्त्र में सुगम या दुर्गम अनेक अर्थों का निरूपण है, वहाँ जिसका बने उसका अभ्यास करना। परंतु अभ्यास में आलसी न होना।

देखो! शास्त्राभ्यास की महिमा, जिसके होने पर परंपरा आत्मानुभव दशा को प्राप्त होता है, मोक्षमार्गरूप फल को प्राप्त होता है। यह तो दूर ही रहो, तत्काल ही इतने गुण प्रगट होते हैं—क्रोधादि कषायों की तो मंदता होती है, पंचेन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति रुकती है, अति चंचल मन भी एकाग्र होता है, हिंसादि पाँच पाप नहीं होते, स्तोक (अल्प) ज्ञान होने पर भी त्रिलोक के तीन काल संबंधी चराचर पदार्थों का जानना होता है, हेय-उपादेय की पहचान होती है, आत्मज्ञान सन्मुख होता है, अधिक-अधिक ज्ञान होने पर आनंद उत्पन्न होता है, लोक में महिमा-यश विशेष होता है, अतिशय पुण्य का बंध होता है; इत्यादिक गुण शास्त्राभ्यास करने से तत्काल ही उत्पन्न होते हैं। इसलिये शास्त्राभ्यास अवश्य करना।

तथा हे भव्य हो! शास्त्राभ्यास करने के समय की प्राप्ति महादुर्लभ है। .....सो तुमने भाग्य से अवसर पाया है इसलिये तुम को हठ से भी तुम्हारे हित के लिये प्रेरणा करते हैं। जैसे हो सके वैसे इस शास्त्र का अभ्यास करो, अन्य जीवों को जैसे बने वैसे शास्त्राभ्यास कराओ। जो जीव शास्त्राभ्यास करते हैं उनकी अनुमोदना करो। पुस्तक लिखवाना व पढ़ने-पढ़ानेवालों की स्थिरता करनी—इत्यादि शास्त्राभ्यास के बाह्य कारण उनका साधन करना; क्योंकि उनके द्वारा भी परंपरा कार्यसिद्धि होती है व महत् पुण्य उत्पन्न होता है।

सम्पादकीय

उत्तम संयम

एक विश्लेषण

[गतांक से आगे]

जब हम इंद्रियसंयम के संबंध में विचार करते हैं तो देखते हैं कि सारा जगत इंद्रियों का गुलाम हो रहा है। यद्यपि सभी आत्माएँ ज्ञानानंदस्वभावी हैं तथापि वर्तमान में हमारा ज्ञान भी इंद्रियों की कैद में है और आनंद भी इंद्रियाधीन हो रहा है। सुबह से शाम तक हमारे सारे कार्य इंद्रियों के माध्यम से ही संपन्न होते हैं। यदि हम आनंद लेंगे तो इंद्रियों के माध्यम से और कुछ जानेंगे तो भी इंद्रियों के माध्यम से ही। यह है हमारी इंद्रियाधीनता, पराधीनता। हमारा ज्ञान भी इंद्रियाधीन और आनंद भी इंद्रियाधीन।

ज्ञान और आनंद को इंद्रियों की पराधीनता से मुक्त कराना बहुत जरूरी है। तदर्थ हमें इंद्रियों को जीतना होगा, जितेन्द्रिय बनना होगा।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि इंद्रियाँ क्या हमारी शत्रु हैं, जो उन्हें जीतना है ? जीता तो शत्रु को जाता है।

हाँ! हाँ!! वे हमारी शत्रु हैं, क्योंकि उन्होंने हमारी ज्ञानानंद-निधि पर अनाधिकार अधिकार कर रखा है।

आप यह भी कह सकते हैं—इंद्रियाँ तो हमारे आनंद और ज्ञान में सहायक हैं। वे तो हमें पंचेन्द्रियों के भोगों के आनंद लेने में सहायता करती हैं, पदार्थों को जानने में भी सहायता करती हैं। सहायकों को शत्रु क्यों कहते हो ? सहायक तो मित्र होते हैं, शत्रु नहीं।

पर आप यह क्यों भूल जाते हैं कि ज्ञान और आनंद तो आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव में पर की अपेक्षा नहीं होती। अतीन्द्रिय आनंद और अतीन्द्रिय ज्ञान को किसी 'पर' की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

यद्यपि इंद्रियसुख और इंद्रियज्ञान में इंद्रियाँ निमित्त होती हैं, तथापि इंद्रियसुख सुख है ही नहीं। वह सुखाभास है, सुख-सा प्रतीत होता है; पर वस्तुतः सुख नहीं, दुःख ही है, पापबंध का कारण होने से आगामी दुःख का भी कारण है। इसीप्रकार इंद्रियाँ रूप-रस-गंध-स्पर्श और शब्द की ग्राहक होने से मात्र जड़ को जानने में ही निमित्त हैं, आत्मा को जानने में वे साक्षात् निमित्त भी नहीं हैं।

विषयों में उलझाने में निमित्त होने से इंद्रियाँ संयम में बाधक ही हैं; साधक नहीं।

पंचेन्द्रियों के जीतने के प्रसंग में भी सामान्यजनों का ध्यान इंद्रियों के भोगपक्ष की ओर ही जाता है, ज्ञानपक्ष की ओर कोई ध्यान नहीं देता। इंद्रियसुख को त्यागने की बात तो सभी करते हैं; पर इंद्रियज्ञान भी हेय है, आत्महित के लिये अर्थात् अतीन्द्रियसुख और अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिये इंद्रियज्ञान की भी उपेक्षा आवश्यक है—इसे बहुत कम लोग जानते हैं।

जब इंद्रियसुख भोगते-भोगते अतीन्द्रियसुख प्राप्त नहीं किया जा सकता तब इंद्रियज्ञान के माध्यम से अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी? आत्मा के अनुभव के लिये जिसप्रकार इंद्रियसुख त्याज्य है; उसीप्रकार अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिये इंद्रियज्ञान से भी विराम लेना होगा।

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं :—

'अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं॥५३॥'

'जिसप्रकार ज्ञान मूर्त-अमूर्त और इंद्रिय-अतीन्द्रिय होता है; उसीप्रकार सुख भी अमूर्त-मूर्त और इंद्रिय-अतीन्द्रिय होता है। इनमें इंद्रियज्ञान और इंद्रियसुख हेय हैं और अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख उपादेय हैं।'

प्रवचनसार की ही पचपनवीं गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचंद्र लिखते हैं :—

'अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति।'

'अब, इंद्रियसुख का साधनभूत इंद्रियज्ञान हेय है-इसप्रकार उसकी निंदा करते हैं।'

इंद्रियज्ञान से विराम लेने की बात तो बहुत दूर; आज हम इंद्रियों के विषयों (भोगों) को भी छोड़ने में नहीं, जोड़ने में लग रहे हैं। पेट के नाम पर पेटी भर रहे हैं। हमसे तो वे चौपाये पशु

अच्छे जिनकी तृष्णा पेट तक ही सीमित है। पेट भर जाने पर वे घंटे-दो घंटे को ही सही, खाने-पीने से विरत हो जाते हैं; पर प्राणी-जगत का यह बुद्धिमान दोपाया सभ्यमानव पलभर को भी विराम नहीं लेता।

यद्यपि अन्य प्राणियों की तुलना में इसका पेट बहुत छोटा है, पर वह कभी भरता नहीं। यदि पेट भर भी जावे तो मन नहीं भरता। कहता है कि पेट के लिये सब कुछ करना पड़ता है। पर यह सब बहाना है। पेट भर जाने पर भी तो इसका मुँह बंद नहीं होता, चलता ही रहता है। जब तक पेट में समाता है तब तक ऐसा खाना खाता है जो पेट में जावे; पर जब पेट भर जाता है तो पान-सुपारी-इलायची आदि ऐसे पदार्थों को खाने लगता है जिनसे रसनेन्द्रिय के विषय की तृप्ति तो हो, पर पेट पर वजन न पड़े। कुछ लोग तो ऐसे मिलेंगे तो चौबीसों घंटे मुँह में कुछ-न-कुछ डाले ही रहेंगे। सोते समय भी डाढ़ के नीचे पान दाबकर सोयेंगे।

भरपेट सुस्वादु भोजन कर लेने के बाद भी न मालूम क्यों इन्हें घासपत्ती खाने की इच्छा होती है ? लगता है ऐसे लोग तिर्यंच योनि से आये हैं, अत: घास खाने का अभ्यास है जो छूटता नहीं; अथवा तिर्यंच गति में जाने की तैयारी है, इस कारण अभ्यास छोड़ना नहीं चाहते। क्योंकि घास खाने और वह भी चौबीसों घंटे खाने का अभ्यास यदि छूट गया तो फिर क्या होगा ? अथवा ऐसा भी हो सकता है कि नरकगति से आये हों। वहाँ सागरों पर्यंत भोजन नहीं मिला था, अब मिला है तो उस पर टूट पड़े हैं। या फिर नरक जाने की तैयारी है। सोचते हैं कि जितने दिन हैं, खा लें; फिर न मालूम मिलेगा या नहीं।

जो भी हो, पर ऐसे लोग पेट भरने के नाम पर पंचेन्द्रियों के विषयों को ही भोगने में लगे रहते हैं।

मैं पूछता हूँ प्यासे को मात्र पानी की जरूरत है या ठंडे-मीठे-रंगीन पानी की। पेट को तो पानी की ही जरूरत है चाहे वह गर्म हो या ठंडा, पर स्पर्शनइंद्रिय की माँग है ठंडे पानी की, रसनेन्द्रिय की माँग है मीठे पानी की, घ्राण कहती है सुगंधित होना चाहिए, फिर आँख की पुकार होती है रंगीन हो तो ठीक रहेगा।

एयरकंडीशन होटल में बैठकर रेडियो का गाना सुनते-सुनते जब हम ठंडा-मीठा-सुगंधित-रंगीन पानी पीते हैं तो एक गिलास का एक रुपया चुकाना पड़ता है। यह एक रुपया

क्या प्यासे पेट की आवश्यकता थी ? पेट की प्यास तो मुफ्त के एक गिलास के पानी से बुझ सकती थी। एक रुपया पेट की प्यास बुझाने में नहीं, इंद्रियों की प्यास बुझाने में गया है।

इंद्रियों के गुलामों को न दिन का विचार है न रात का, न भक्ष का विचार है न अभक्ष का। उन्हें जो जब जैसा मिल जावे खाने-पीने-भोगने को तैयार हैं। बस उनकी तो एक ही माँग है कि इंद्रियों को अनुकूल लगना चाहिये; चाहे वह पदार्थ हिंसा से उत्पन्न हुआ हो, चाहे मलिन ही क्यों न हो, इसका उन्हें कोई विचार नहीं रहता।

जिनके भक्षण में अनंत जीवराशि का भी विनाश क्यों न हो—ऐसे पदार्थों के सेवन में भी इन्हें कोई परहेज नहीं होता, बल्कि उनका सेवन नहीं करनेवालों की हँसी करने में ही इन्हें रस आता है। अपने असंयम की पुष्टि में अनेक प्रकार की कुतर्कें करते रहते हैं।

एक सभा के बीच ऐसे एक भाई मुझसे बोले—"हमने सुना है कि आलू आदि जमींकदों में अनंत जीव रहते हैं ?"

जब मैंने कहा—"रहते तो हैं।" तब कहने लगे—"उनकी आयु कितनी होती है ?"

"एक श्वास के अठारहवें भाग" यह उत्तर पाकर बोले—"जब उनकी आयु ही इतनी कम है तो वे तो अपनी आयु की समाप्ति से ही मरते होंगे, हमारे खाने से तो मरते नहीं। फिर उनके खाने में क्या दोष है ?"

मैंने कहा—"भाई! जरा विचार तो करो। भले ही वे अपनी आयु समाप्ति के कारण मरते हों, पर मरते तो तुम्हारे मुँह में हैं और वहीं जन्म भी ले लेते हैं। जरा से स्वाद के लिये अनंत जीवों का मुर्दाघर और जच्चाखाना अपने मुँह को, पेट को क्यों बनाते हो ?

यदि कोई तुम्हारे घर को जच्चाखाना बनाना चाहे या मुर्दाघर बनाना चाहे, तो क्या सहज स्वीकार कर लोगे ?"

"नहीं।"

"तो फिर मुँह को, पेट को क्यों बनाते हो ?"

तब वे कहने लगे—"हम उन्हें मारते तो नहीं, वे स्वयं मर जाते हैं।"

तब प्रेम से समझाते हुए मैंने कहा—"आपके घर में किसी को मारकर नहीं जलावेंगे,

उन्हीं को जलावेंगे जो स्वयं की मौत से मरेंगे तथा अवैध बच्चों को नहीं, पर वैध बच्चों को पैदा करनेवाली जच्चाओं को ही रखेंगे, तब तो आपको कोई ऐतराज न होगा ?

यदि होगा तो फिर स्वयं मृत और जन्म लेनेवाले जीवों का मरणस्थान और जन्मस्थान अपने मुँह को क्यों बनाना चाहते हो ?

भाई ! राग की तीव्रता और अधिकता बिना ऐसे निन्द्य काम संभव नहीं हैं। राग की तीव्रता और अधिकता ही महाहिंसा है। अत: हिंसामूलक एवं इंद्रियों की लोलुपतारूप ऐसे असंयम को छोड़ ही देना चाहिये।''

यह बात सुनकर उन भाई ने तो अभक्ष्य-भक्षण छोड़ ही दिया और भी अनेक लोगों ने हिंसामूलक एवं इंद्रियगृद्धतारूप अभक्ष्य-भक्षण का त्याग किया।

यद्यपि सारा जगत इंद्रियों के भोगों में ही उलझा है तथापि वैराग्य का वातावरण पाकर भोगों को छोड़ देना उतना कठिन नहीं है—जितना इंद्रियों के माध्यम से होनेवाली ज्ञान की बर्बादी रोकना है। क्योंकि इंद्रियभोगों को तो सारा जगत बुरा कहता है, पर इंद्रियज्ञान को उपादेय माने बैठा है। जिसे उपादेय माना हो, उसे छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि इंद्रियों के माध्यम से तो ज्ञान उत्पन्न होता है और आप बर्बाद होना कहते हैं ?

हाँ, हम यही कहते हैं और ठीक कहते हैं क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति तो आत्मा में आत्मा से ही होती है। इंद्रियों के माध्यम से तो वह बाह्य पदार्थों में लगता है, पर-पदार्थों में लगता है। इंद्रियों के माध्यम से पुद्गल का ही ज्ञान होता है क्योंकि वे रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की ग्राहक हैं। आत्मा का हित आत्मा को जानने में है, अत: पर में लगा ज्ञान का क्षयोपशम ज्ञान की बर्बादी ही है, आबादी नहीं।

अनादिकाल से आत्मा ने पर को जाना, पर आज तक सुखी नहीं हुआ। किंतु एक बार भी यदि आत्मा अपने आत्मा को जान लेता तो सुखी हुए बिना नहीं रहता।

यह तो ठीक, पर इससे संयम का क्या संबंध ? यही कि संयमन का नाम ही तो संयम है, उपयोग को पर-पदार्थों से समेटकर निज में लीन होना ही संयम है। जैसा कि 'धवल' में कहा है और जिसे आरंभ में ही स्पष्ट किया जा चुका है।

यह आत्मा पर की खोज में इतना व्यस्त है और असंयमित हो गया है कि खोजनेवाला ही खो गया है। परज्ञेय का लोभी यह आत्मा स्वज्ञेय को भूल ही गया है। बाह्य पदार्थों को जानने की व्यग्रता में अंतर में झाँकने की फुरसत ही नहीं है इसे।

यह एक ऐसा सेठ बन गया है जिसकी टेबल पर पाँच-पाँच फोन लगे हैं। एक से बात समाप्त नहीं होती कि दूसरे फोन की घंटी टनटना उठती है। उससे भी बात पूरी नहीं हो पाती कि तीसरा बोल उठता है। इसीप्रकार फोनों का सिलसिला चलता रहता है। सामने बैठे अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति से यह बात भी नहीं कर पाता। फोन पाँच-पाँच हैं और उनकी बात सुननेवाला एक है।

इसीप्रकार इंद्रियाँ पाँच हैं और उनके माध्यम से जाननेवाला आत्मा एक है। बाहरी तत्त्व पुद्गल की रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द संबंधी सूचनाएँ इंद्रियों के माध्यम से निरंतर आती रहती हैं। कानों के माध्यम से सूचना मिलती है कि यह हल्ला-गुल्ला कहाँ हो रहा है? उस पर विचार ही नहीं कर पाता कि नाक कहती है बदबू आ रही है। उसके बारे में कुछ सोचे कि आँख के माध्यम से कुछ काला-पीला दिखने लगता है। उसका कुछ विचार करे कि ठंडी हवा या गर्म लू का झोंका अपनी सत्ता का ज्ञान कराने लगता है। उससे सावधान भी नहीं हो पाता कि मुँह में रखे पान में यह कड़वापन कहाँ से आ गया—रसना यह सूचना देने लगती है।

क्या करे यह बेचारा आत्मा! बाहर की सूचनाएँ और जानकारियाँ ही इतनी आती रहती हैं कि अंतर में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आत्मतत्त्व विराजमान है, उसकी ओर झाँकने की भी इसे फुर्सत नहीं है।

इंद्रियों के माध्यम से परज्ञेयों में उलझा यह आत्मा स्वज्ञेय निजात्मा को आज तक जान ही नहीं पाया—उसे माने कैसे, उसमें जमे कैसे, रमे कैसे? यही एक विकट समस्या है।

आत्मा में जमना-रमना ही संयम है। अतः संयम को प्राप्त करने के लिये मात्र इंद्रियभोगों को नहीं, इंद्रियज्ञान को भी तिलांजलि देनी होगी, चाहे वह अंतर्मुहूर्त को ही सही। इंद्रियज्ञान में उपादेय बुद्धि तो छोड़नी ही होगी। उसके बिना तो सम्यग्दर्शन भी संभव नहीं है और सम्यग्दर्शन के बिना संयम होता नहीं है।

'पंचेन्द्रिय मन वश करो' का आशय इंद्रियों को तोड़ना-फोड़ना नहीं, वरन् उनके भोगों एवं उनके माध्यम से होनेवाली ज्ञान की बर्बादी को रोकना ही है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी संभव है कि आत्मा का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, तो फिर पर को जानने में क्या हानि है ?

पर को जाननामात्र बंध का कारण नहीं है। केवली भगवान पर को जानते ही हैं। यदि लोकालोक को जाननेवाला पूर्णज्ञान हो तो फिर पर को नहीं जानने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। पर बात यह है कि छद्मस्थों (अल्प ज्ञानियों) का उपयोग एक साथ अनेक ओर नहीं रहता, एक बार में एक ज्ञेय को ही जानता है। जब उनका उपयोग पर की ओर रहता है तब-तब आत्मा जानने में नहीं आता, आ भी नहीं सकता। यही कारण है कि पर में उपयोग लगे रहने से आत्मा के जानने में, आत्मानुभूति में बाधा पहुँचती है। दूसरे इंद्रियों के माध्यम से जितना भी जानना होता है, वह सब पुद्गल का ही होता है। यही कारण है कि इंद्रियज्ञान आत्मज्ञान में साधक नहीं, बल्कि बाधक है।

पर यह अपने को चतुर माननेवाला जगत कहता है कि अपना पाडा यदि दूसरे की भैंस का दूध पी आवे तो क्या हानि है ? अपनी भैंस का दूध दूसरों के पाडे को नहीं पीने देना चाहिये। पर उसे यह पता नहीं है कि यदि अपना पाडा प्रतिदिन दूसरे की भैंस का दूध पीता रहेगा। तो एक दिन वह उसी का हो जावेगा। उसी को अपनी माँ मानने लगेगा, जिसका दूध उसे प्रतिदिन मिलेगा। फिर वह आपकी भैंस को अपनी माँ न मान सकेगा।

आप समझते रहेंगे कि आपका पाडा दूसरे की भैंस का दूध पी रहा है, पर वह समझता है कि उसकी भैंस को बच्चा मिल गया है।

इसीप्रकार निरंतर पर को ही जाननेवाला ज्ञान भी एक तरह से पर का हो जाता है। वस्तुत: आत्मा को जाननेवाला ज्ञान ही आत्मा का है, आत्मज्ञान है। पर को जाननेवाला ज्ञान एक दृष्टि से ज्ञान ही नहीं है; वह तो अज्ञान है, ज्ञान की बर्बादी है। लिखा भी है:—

आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
विश्वशांति का मूल है, वीतराग-विज्ञान॥

— डॉ. भारिल्ल : वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका, मंगलाचरण

संयम की सर्वोत्कृष्ट दशा ध्यान है। वह आँख बंद करके होता है, खोलकर नहीं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मानुभव एवं आत्मध्यान इंद्रियातीत होता है। आत्मानुभव एवं आत्मध्यानरूप संयम के लिये इंद्रियों के प्रयोग की आवश्यकता नहीं है।

इंद्रियज्ञान को भी हेय माननेवाले आत्मार्थी का जीवन अमर्यादित इंद्रियभोगों में लगा रहे, यह संभव नहीं है। कहा भी है :—

ग्यान कला जिनके घट जागी, ते जगमाँहि सहज वैरागी।
ग्यानी मगन विषैसुखमाँही, यह विपरीत संभवै नाहीं॥४१॥

— बनारसीदास : नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पृष्ठ १५६

उत्तम संयम के धारी महाव्रती मुनिराजों के तो भोग की प्रवृत्ति देखी ही नहीं जाती। देशसंयमी अणुव्रती श्रावक के यद्यपि मर्यादित भोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है, पर उसके तथा अव्रती सम्यग्दृष्टि के भी अनर्गल प्रवृत्ति नहीं होती।

आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला अंतर्बाह्य उत्तम संयमधर्म हम सबको शीघ्रातिशीघ्र प्रकट हो, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ और भावना भाता हूँ कि —

'वो दिन कब पाऊँ, घर को छोड़ वन जाऊँ।'

समयसार प्रवचन

निश्चयनय से जाने हुये नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं

परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथराज समयसार की तेरहवीं गाथा पर पूज्य कानजीस्वामी के प्रवचन का संक्षिप्त सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है :—

भूदत्थेणाभिगदा जीवजीवा पुण्णपावं च।
आसवसंवराणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥१३॥

भूतार्थ नय से ज्ञात जीव, अजीव; पुण्य, पाप; आस्रव, संवर; निर्जरा, बंध और मोक्ष—यह नवतत्त्व सम्यक्त्व हैं।

इस गाथा में कहते हैं कि शुद्धनय से नवतत्त्वों का जानना सम्यग्दर्शन है। तीव्र जिज्ञासावाले समझ लें ऐसा १२ गाथाओं में ही संक्षिप्त साररूप कथन आ गया है। यहाँ नव तत्त्व को विस्तार से समझाया जाता है।

जीवादि नवतत्त्वों को शुद्धनय से जानते समय अखंड के लक्ष्य से स्वभाव की ओर ढलकर एकरूप स्वभाव को जानना-मानना नियम से सम्यग्दर्शन है। अभेद परमार्थ स्वरूप को समझने के लिये पहले निमित्तरूप तीर्थ (व्यवहार धर्म) की प्रवृत्ति के लिये अभूतार्थनय से नवतत्त्व का भेद किया जाता है कि "जो जानता है, वह आत्मा है, जो नहीं जानता वह अजीव है, कर्म निमित्ताधीन होनेवाले शुभाशुभ भाव आस्रव हैं, उनमें जुड़ने से बंध होता है, स्वभाव को पहचान कर उसमें ठहरने से संवर-निर्जरारूप अवस्था होती है और स्वभाव में पूर्णरूप से ठहरने से मोक्षरूप पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट होती है।"

इसप्रकार नवतत्त्व की व्याख्या समझे बिना परमार्थ नहीं जाना जा सकता। अत: तीर्थ की प्रकृति के लिये अभूतार्थ ऐसे अनेक प्रकार के भेदों से भूतार्थ को—एकरूप आत्मा को कहते हैं। यद्यपि उससे धर्म नहीं होता फिर भी उसकी उपस्थिति अवश्य रहती है। जब श्रद्धा में नवप्रकार के विकल्पों को छोड़ अखंड स्वभाव का लक्ष्य करता है, तब नवतत्त्व का व्यवहार अभावरूप निमित्त कहलाता है।

जीव में ऐसा कोई गुण नहीं है कि वह पुण्य-पाप आदिरूप हो; परंतु पर्यायबुद्धिवालों की पर्याय की योग्यता से पर्याय में पुण्य-पाप आदि विकार होते हैं, उस समय निमित्तरूप कर्म होने से विकार का कर्ता, कर्म कहलाता है।

यहाँ व्यवहार नवतत्त्व का लक्षण कहते हैं :—

जीव - 'मैं जीव हूँ, परिपूर्ण ज्ञानस्वभावी परमात्मा हूँ'—मन के संबंध से ऐसा रागसहित विचार करना जीव की व्यवहार प्रतीति है। तीर्थ प्रवृत्ति के लिये ऐसा व्यवहार धर्म किया जाता है परंतु वह सम्यग्दर्शन नहीं।

अजीव - शरीर, कर्म आदि मुझसे भिन्न हैं, अजीव की क्रिया मुझसे भिन्न है, स्वतंत्र है; ऐसा रागसहित विचार करना अजीवतत्त्व है। यह अजीव की व्यवहार प्रतीति है।

पुण्य - अपनी पर्याय में होनेवाले दया-दानादि परिणामों को पुण्य कहते हैं। आहारदान, यात्रा आदि अजीव की क्रियाओं से पुण्य नहीं; निगोद के जीवों को यात्रा नहीं, धन नहीं, आहारदान आदि की क्रिया नहीं; फिर भी उनको पुण्य भाव होता है।

पाप - हिंसा, झूठ, चोरी आदि के भावों को पाप जानना चाहिये। शरीर की क्रिया से

पुण्य-पाप नहीं होता। जड़ की क्रिया जड़ से होती है और जीव की क्रिया जीव से होती है।

आस्त्रव – पुण्य-पाप दोनों मलिन हैं, आस्त्रव हैं।

संवर – शुद्ध आत्मा के आश्रय से निर्मलता प्रगट होना संवर है। व्यवहार के विकल्पों के समय संवर नहीं। ज्ञायकस्वभाव को पकड़े तो पूर्व के विचार को व्यवहार कहते हैं।

निर्जरा – विशेष शुद्धता, वीतरागी अंश को निर्जरा कहते हैं।

बन्ध – ज्ञायकस्वभाव का विकार में रुकना बंध है।

मोक्ष – पूर्ण शुद्धदशा प्रकट होना मोक्ष है।

उपरोक्त नव को जाननेवाला एकरूप है, नवरूप नहीं हुआ। नवभेदरूप अनुभव करना मिथ्यात्व है। उसे छोड़ एकरूप अनुभव करना सम्यग्दर्शन है, आत्मख्याति है। नव के भेद का लक्ष्य छोड़कर ज्ञायक चिदानंद परिपूर्ण आत्मा की प्रसिद्धि होना संवर-निर्जरा है।

अनादिकालीन भूल को टालने के लिये सत्य समझना चाहिये। अपने स्वरूप को भूलना ही अपना अपमान है। दुनिया कदाचित् सम्मान करे, फिर भी स्वभाव की विपरीत मान्यता से तो अपना अपमान ही होता है। अंतर में शुद्धस्वभाव की प्रतीति होना सम्मान है, आत्मख्याति है।

नवतत्त्व व्यवहाररूप है, उनमें मात्र चिदानंद का अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। जीवादि नवतत्त्व भूतार्थ से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं अर्थात् नवतत्त्व में व्यापकरूप रहनेवाले एक ज्ञायक को दृष्टि में लेने से सम्यग्दर्शन होता है।

व्यवहार धर्म की प्रवृत्ति अर्थात् भूतार्थ एकरूप त्रिकाली जीव स्वभाव को समझने के लिये अभूतार्थनय से जीवादि नवतत्त्व कहे जाते हैं तो भी उनमें एकत्व प्रकट करनेवाले भूतार्थनय द्वारा एकत्व प्राप्त करके त्रिकाली एकरूप आत्मा का अनुभव होता है, पर्याय में आत्मा की प्रसिद्धि होती है। नवतत्त्व हैं अवश्य, परंतु उन्हें देखने से आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती थी, ढँक गया था; परंतु उनमें एकत्व प्रगट करनेवाले ज्ञायकभाव को देखने से आत्मख्याति जिसका लक्षण है, ऐसी आत्मानुभूति होती है।

भगवान आत्मा की प्रसिद्धि बाह्य से नहीं होती। नवतत्त्व के भेद में भी आत्मा प्रसिद्ध नहीं होता, रागमिश्रित विचार में व्यवहार का अवलंबन है। भेद को भी दूर करना नहीं पड़ता।

अभेद एकरूप ज्ञायक के अवलंबन से भेद दूर होकर आत्मख्याति होती है।

जो जैनमत और अन्यमत का समन्वय करते हैं, उनके तो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं। जिनकी पर्याय में केवलज्ञान-सूर्य उदित हुआ है, उनकी वाणी में जैसा नवतत्त्व का स्वरूप आया है, रागसहित वैसी ही श्रद्धा करना व्यवहार है-पुण्य है। उससे विपरीत स्वरूप मानना तो स्थूल मिथ्यात्व है। कुदेवादि की श्रद्धा छूटने पर गृहीत मिथ्यात्व छूटता है और नवतत्त्व के भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेदस्वभाव में एकाग्र होने से अगृहीत मिथ्यात्व टूटकर सम्यग्दर्शन होता है।

आत्मख्याति अनुभूति का लक्षण है। अनादिकाल से आत्मानुभूति नहीं थी। पर्याय ने स्वभाव का अवलंबन किया उससे अनुभूति का उत्पाद हुआ इसलिये शुद्धनय से नवतत्त्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है - इस हेतु से यह नियम कहा है कि 'जीवादि नवतत्त्व भूतार्थ से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं।'

प्रथम नवतत्त्व की सिद्धि करके फिर नव के भेद में रुकना भ्रांति है, यह समझाते हैं :—

विकारी होने योग्य और विकार करनेवाला दोनों पुण्य हैं तथा दोनों पाप हैं। दया-दानादि तथा हिंसादि परिणाम होने की स्वतंत्र योग्यता अपनी है। पुण्य-पाप होते हुए भी जो उन्हें नहीं मानते, वे भ्रांति में हैं। पुण्य-पाप आदि परिणाम पर के कारण होते हैं - ऐसा माननेवाले भी विपरीत बुद्धि हैं। नवतत्त्व को जानकर उनके भेद में रुक जानेवाले भी विपरीत बुद्धि हैं।

यहाँ दया-दानादि परिणाम को जीव-पुण्य कहा और उदय में आये हुए पूर्व के मोहकर्म को अजीव-पुण्य कहा। चार घातियाकर्मों में मोहनीय कर्म पाप प्रकृति है। फिर भी जीव के परिणाम में पुण्यभाव होने पर मोहनीय कर्म में अजीव-पुण्य का तथा पापभाव होने पर अजीव-पाप का आरोप किया।

विकार करनेवाला तो स्वयं है - फिर निमित्त को विकार करनेवाला क्यों कहा? वास्तव में जीव तो शुद्धस्वभाव का कर्ता है, परंतु अपनी पर्याय में पुण्य-पाप की योग्यता है; अतः अजीव कर्म को विकार करनेवाला कहा है। दोनों स्वतंत्र हैं। मोहकर्म को अजीव पुण्य-पाप कहा है। दोनों के संबंध से पुण्य-पाप उत्पन्न होते हैं। स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते, इसलिये दोनों पुण्य तथा पाप हैं।

'कर्म का ऐसा उदय आया कि मुझे पाप करना पड़ा' ऐसा माननेवाले को स्वभाव की प्रतीति नहीं हो सकती।

'द्रव्य गुण में विकार नहीं, तो पर्याय में विकार कैसे हुआ ?' ऐस प्रश्न उठाकर अज्ञानी, कर्म से विकार होने की मान्यता पुष्ट करते हैं, पर यह भूल है। पुण्य-पाप परिणाम अपनी स्वतंत्रता से होते हैं तो पूर्व कर्म के उदय को पुण्य-पाप कहते हैं।

अपनी पर्याय में पुण्य-पाप की योग्यता और पूर्व कर्म का उदय निमित्त, ऐसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध को ही एकांत से माने तो मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि अपने को पर्याय अंश जितना ही माना, अंशी न माना; अत: ज्ञायक स्वभाव की दृष्टि नहीं हुई।

कर्म का उदय मन्द हो, उसे पुण्य कहते हैं-ऐसा नहीं। अपने परिणाम में कषाय मंद करे तो पूर्व कर्म के उदय को पुण्य कहते हैं और पापभाव करे तो पूर्व कर्म के उदय को पाप कहते हैं। कर्म का उदय तीव्र हो या मंद-यह प्रश्न नहीं। स्वभाव के कारण विकार नहीं होता - ऐसा बताने के लिये दूसरी चीज़ निमित्त है - ऐसा बताते हैं।

आस्रव होनेयोग्य और आस्रव करनेवाला दोनों आस्रव हैं। दया-दान आदि शुभभाव पुण्य आस्रव और हिंसादि अशुभभाव पाप आस्रव हैं। उनमें आस्रव होनेयोग्य अपनी अवस्था अपनी योग्यता से है। किसी को मिथ्यात्व के साथ शुभभाव हो तो मिथ्यात्व पापरूप है और शुभभाव पुण्यरूप है, दोनों एक साथ हैं। स्वभाव में आस्रव होने की योग्यता नहीं, पर्याय में है। पुण्य-पाप के परिणाम जीव आस्रव हैं और पूर्व कर्म का उदय अजीव आस्रव है।

संवर होनेयोग्य (संवार्य) और संवर करनेवाला (संवारक) दोनों संवर हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की दशा अपनी योग्यता से होती है, वह संवार्य है। पूर्व कर्म के उपशम या क्षय को संवारक कहते हैं। अपना भाव संवररूप हुआ तो पूर्व कर्म को संवर कहा गया। आत्मा के भाव-संवर से जड़कर्म छूटता है - ऐसा नहीं। कर्म का निमित्त भी अपनी योग्यता से छूटनेयोग्य था। रत्नत्रय प्रकट हो तो कर्म छूटने को संवर करानेवाला कहते हैं। नवभेद में जो स्वयंसिद्धता न माने उसे द्रव्यदृष्टि नहीं हुई।

निर्जरा होनेयोग्य और निर्जरा करनेवाला दोनों निर्जरा हैं। अपनी पर्याय में अशुद्धता मिटने की और शुद्धता बढ़ने की क्रमबद्ध योग्यता भावनिर्जरा है, तब पूर्व कर्म में भी खिरने या स्थिति-रस घटने की योग्यता अजीव निर्जरा है - ऐसा स्वतंत्र निमित्त-नैमित्तिक

संबंध न स्वीकारे अर्थात् अंश को स्वतंत्र न स्वीकारे तो अंशी द्रव्य को भी स्वतंत्र स्वीकार नहीं कर सकता।

बंधनेयोग्य और बंधन करनेवाला दोनों बंध हैं :- अबंध स्वभाव को चूककर विकारी पर्याय में अटकना भावबंध है, वह जीव की स्वतंत्र योग्यता है। पूर्व कर्म को अजीवबंध कहते हैं। दोनों के योग से ऐसा संबंध उत्पन्न होता है। स्वभाव के लक्ष्य से ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं होता। केवली भगवान में भी अशुद्धता की ऐसी योग्यता है जिससे विहारादि होते हैं, अघातिकर्म से नहीं। आत्मा का विकार में रुकना भावबंध है, उसमें अजीव द्रव्यबंध निमित्त है। स्वयं भ्रष्ट होकर परिणमे तब निमित्त को बंधन करनेवाला कहा जाता है। अज्ञानी जीव निमित्त-नैमित्तिक संबंध में रुका है।

मोक्ष होनेयोग्य और मोक्ष करनेवाला दोनों मोक्ष हैं - अपने स्वकाल में पूर्ण शुद्धता हुई वह भावमोक्ष है और कर्म के अभाव को द्रव्यमोक्ष या अजीवमोक्ष कहते हैं। वह निमित्त है, अत: उसे उपचार से मोक्ष करनेवाला कहते हैं। सिद्धदशा में निमित्त-नैमित्तिक संबंध नहीं, यहाँ निचली दशा की बात कहते हैं।

अकेले जीव या अजीव को अपने पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध-मोक्ष की उत्पत्ति (सिद्धि) नहीं होती। ये सब जीव और अजीव की पर्यायें हैं।

निमित्त-नैमित्तिक संबंध बिना मात्र जीव के स्वभाव से देखने पर सात तत्त्व सिद्ध नहीं होते। यह राग है, पुण्य है - ऐसे विकल्प कर्म के संबंध से होते हैं। एक जीव को ही अपने आप स्वभाव के आश्रय से पुण्य-पाप, आस्रव-बंध नहीं बनते। अपनी योग्यता और निमित्तरूप कर्म के सद्भाव से पुण्य-पाप आदि होते हैं तथा अपनी पर्याय की योग्यता और निमित्तरूप कर्म के अभाव से संवर-निर्जरा और मोक्ष होते हैं।

बाह्य दृष्टि से, शुद्ध चैतन्यस्वभाव-सम्मुख दशा छोड़ जीव पुद्गल की बंध पर्याय के समीप जाकर एकरूप अनुभव करने पर नवतत्त्व भूतार्थ हैं। पर्यायदृष्टि से नवतत्त्व हैं, नवतत्त्वों को न माने तो तीव्र मिथ्यादृष्टि है और नव भेदों में रुके तो व्यवहाराभासी है। नव भेद की समीपता छोड़कर स्वभाव की समीपता करे तो नवतत्त्व अभूतार्थ है।

काललब्धि आये अथवा कर्म मंद पड़े तो स्वभाव-सम्मुख हो - ऐसा नहीं कहा अपितु

स्वभाव-सम्मुख जाकर अनुभव कर - ऐसा कहकर अभेदस्वभाव-सम्मुख होने में पुरुषार्थ को मुख्य बताया है।

जीव के एकरूप स्वभाव में नव भेद ज्ञात नहीं होते। नवतत्त्व के भेदरूप क्षणिक अवस्था जितना मैं नहीं, त्रिकाली कायम रहनेवाला पूर्ण कृतकृत्य हूँ। इसप्रकार पूर्ण की श्रद्धा के जोर में अतीन्द्रिय आनंदसहित अनुभव करने पर भेद नहीं दिखता। अविकारी अभेदस्वभाव की श्रद्धा के बाद भेद के विकल्प आते हैं; परंतु एक बार अखंड स्वभाव में ठहरकर नव के भेद से जरा खिसककर स्वभाव-सम्मुख हो तो पराश्रित भेद में कर्तृत्व नहीं होता। स्वभाव-सम्मुख होने पर दृष्टि अपेक्षा नवतत्त्व का भेद छूट गया। चारित्र की कमजोरी से भेदरूप विचार चलता है, अतः निमित्त-नैमित्तिक संबंध सर्वथा नहीं छूटा ऐसा ज्ञान जानता है परंतु दृष्टि उस संबंध को नहीं स्वीकारती।

यहाँ शुद्धनय अर्थात् ज्ञान से बात की है। ज्ञान पर्यायस्वभाव में एकाग्र होने पर प्रतीति निर्मल हो जाती है और आंशिक स्वरूप-आचरण हुआ। इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों अविनाभावी होते हैं।

यहाँ जो श्रद्धा की पर्याय स्वभाव-सम्मुख होकर अभेद होती है, वह अभेद प्रधान द्रव्यार्थिकनय के विषय में जाती है, अतः भूतार्थ है। वह पर्याय अनुभव के साथ एकाकार होने से शुद्धनय के विषय में आ जाती है। एक पर्याय और दूसरी पर्याय में शुद्धता का अंतर करने से भेद होता है, जो कि अभूतार्थ है।

यहाँ कहते हैं कि नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है। जिसके लक्ष्य में ज्ञायकभाव आया उसे जीव ही प्रकाशमान है; उसे सम्यग्दर्शन होता है।

इसीप्रकार अंतर्दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का हेतु (विशेष कार्य का निमित्त कारण) अजीव है। पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, जीव के विकार अर्थात् विशेष कार्य हैं और उनके निमित्तकारण जो पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष केवल अजीव हैं। ऐसे यह नवत्त्व जीव के स्वभाव को छोड़कर स्वयं और पर अर्थात् जीव और पुद्गल जिनके कारण-कर्ता हैं - ऐसे एक द्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, और सर्व काल में अस्खलित अखंड ध्रुव एकरूप जीव द्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अर्थात् दृष्टि में लेकर एकत्व का अनुभव करने पर अभूतार्थ है।

चिदानंद आत्मा में स्खलना नहीं, भेद नहीं; ऐसे अस्खलित आत्मा के समीप जाने पर नवतत्त्व अभूतार्थ है। सर्व काल अस्खलित अर्थात् एकरूप द्रव्यस्वभाव की बात है। सर्व काल अर्थात् तीन काल की बात नहीं, परंतु वर्तमान में प्रतिसमय स्वभाव अस्खलित है। सम्यग्दर्शन प्रगट करने की योग्यता हो उसे नवतत्त्व के भेदरूप विकल्प सहज आते हैं। जैसे निमित्त को लाना नहीं पड़ता वे सहज आते हैं; उसीप्रकार नवतत्त्व का भेदरूप राग करना नहीं पड़ता, सहज आता है।

सम्यग्दर्शन होने के पूर्व जो नवतत्त्व के विकल्प आते थे, सम्यक्त्व होने के पश्चात् उन्हें भूतनैगमनय से व्यवहार कहते हैं। पूर्व के भेद-विकल्प और सम्यग्दर्शन को काल भेद है; परंतु सम्यक्त्व के बाद जो भेद-विकल्प होते हैं, उनमें और सम्यक्त्व में काल भेद नहीं है। क्योंकि सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की और विकल्प चारित्रगुण की पर्याय होने से वे दोनों साथ हो सकते हैं। व्यवहार अथवा राग जो कि अंतर निमित्त हैं; जिसप्रकार उन्हें लाना नहीं पड़ता, उसीप्रकार छोड़ना भी नहीं पड़ता। व्यवहार को हेय करना नहीं पड़ता, परंतु व्यवहार का भेद स्वयं छूट जाता है।

चित्त में पहले नवतत्त्व के विचार आना चाहिये। परंतु शुद्ध स्वभाव के समीप जाने पर नव का विकल्प मिटने पर ही उन्हें व्यवहार कहते हैं। अज्ञानी कहते हैं पहले व्यवहार तो होना चाहिये न? परंतु स्वभाव-पुरुषार्थ बिना सब व्यर्थ है। पंडित दीपचंदजी 'अनुभवप्रकाश' में आत्मभान बिना व्रतादि को मोह-भजन कहते हैं। परंतु यह बात अपने आत्महित के लिये है। किसी ने तत्त्व के भान बिना अज्ञानपूर्वक व्रतादि ले लिये हों उसका अनादर करने के लिये नहीं।

नवतत्त्वों में भूतार्थ से एक जीव ही प्रकाशमान है। इसप्रकार यह एकत्वरूप से प्रकाशित होता हुआ शुद्धनय से अनुभव किया जाता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का अभेद होना अनुभूति है; वह ज्ञान की पर्याय है, आत्मख्याति है, सम्यग्दर्शन है। अनुभूति ज्ञान की पर्याय है; उसी समय अविनाभाव संबंधी सम्यग्दर्शन है, इसलिये अनुभूति को सम्यग्दर्शन कहा है।

जिसे नवतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा नहीं वह तो आँगन में भी नहीं आया। नवतत्त्व को जैसा का तैसा जानना भी आँगन है, घर नहीं। जैसे आँगन छोड़कर घर आते हैं; उसीप्रकार नवतत्त्वरूपी विकल्प के आँगन छोड़कर स्वभाव में आने पर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है – फिर चारित्र आदि अन्य धर्म प्रकट होते हैं।

इसप्रकार यह सर्व कथन निर्दोष है, बाधारहित है। नवतत्त्वों को जैसा का तैसा जानना व्यवहार से निर्दोषता है और शुद्ध स्वभाव को लक्ष्य में लेना निश्चय से निर्दोषता है।

नवतत्त्वों में शुद्धनय से देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य चमत्कारमात्र प्रकाशरूप प्रकट हो रहा है। जब तक इसप्रकार जीवतत्त्व की जानकारी नहीं है, तब तक व्यवहारदृष्टि है। मिथ्यादृष्टि है; भिन्न-भिन्न नवतत्त्वों को मानता है। जीव-पुद्गल की बंधपर्यायरूप दृष्टि से यह पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखते हैं; किंतु जब शुद्धनय से जीव-पुद्गल का भिन्न-भिन्न स्वरूप देखा जाये तब वे पुण्य-पाप आदि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं। निमित्त की ओर लक्ष्य न जाये तब नैमित्तिक भाव नहीं रहता।

वस्तु तो द्रव्य ही है और द्रव्य का निजभाव द्रव्य के साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिकभाव का तो अभाव ही होता है, इसलिये जीव को शुद्धनय से जानने से ही सम्यग्दर्शन प्रकट हो सकता है। जब तक भिन्न-भिन्न नव पदार्थों को जाने और शुद्धनय से आत्मा को न जाने तब तक पर्यायबुद्धि है। अतः नव का यथार्थ ज्ञान करके स्वभावदृष्टि करने का प्रयोजन है।

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीय मानं।
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम्॥८॥ [कलश]

इसप्रकार नवत्तवों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय से बाहर निकालकर प्रकट की गई है, जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं। इसलिये अब हे भव्य जीवो! इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होनेवाले नैमित्तिक भावों से भिन्न, एकरूप देखो। यह (ज्योति), पद-पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

नवतत्त्वों के विकल्परूपी भेद-जाल में अनादिकाल से आत्मज्योति छुपी है। जैसे धुँए में अग्नि नहीं दिखती; उसीप्रकार राग के परिणाम में चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं दिखता। एकांत भेद को ही माने तो मिथ्यादृष्टि है। अनादि से छुपी हुई आत्मज्योति को शुद्धनय बाहर निकालता है। नवतत्त्व के भेदविचार में ज्ञायक का पता नहीं था, परंतु स्वभाव-सम्मुख होने से वह प्रकट होता है।

जैसे ताँबे के संयोग से तामियाँ रंग के अनेक भेदों में सोने का स्वरूप छुपा हुआ था—उसे अग्नि में तपाने से एकाकार शुद्ध स्वर्ण बाहर निकालते हैं; उसीप्रकार नवतत्त्व के अनेक भेदों में छुपे हुए आत्मा के शुद्धचैतन्य एकाकारस्वरूप को शुद्धनय से प्रगट किया जाता है।

आचार्यदेव करुणा से कहते हैं—हे भव्य जीवों! अनंत काल मिथ्यात्व में गया पर अब भेदबुद्धि छोड़कर ज्ञायकस्वभाव की रुचि करो। चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्म से सदा भिन्न है। अपनी पर्याय में अपने कारण विकार है, उससे भी भिन्न अपने आत्मा को एकरूप देखो। भेद, राग का कारण है, अभेद स्वभाव में भेद नहीं। नैमित्तिक अर्थात् विकारी भावों से भिन्न एकरूप आत्मा को देखो। आत्मा के असंख्यप्रदेश देखने की बात नहीं, परंतु अखंड चैतन्य स्वभाव की श्रद्धा को देखो, कहा है।

यह ज्योति पद-पद पर अर्थात् पर्याय-पर्याय में एकरूप चित्चमत्कार मात्र उद्योतमान है। चाहे जो अवस्था हो, पर्याय में चाहे जो राग हो, तो भी ज्ञायक तो चैतन्यमात्र है। उसकी प्रतीति और अनुभव करना सम्यग्दर्शन है, उसके साथ ज्ञान और चारित्र आ जाते हैं।

लोग पूछते हैं कि हम करें क्या? भाई! निमित्त और भेद की रुचि छोड़कर आत्मा की रुचि करो। नवभेद में रुकना भी पर्यायबुद्धि है, अतः भेद छोड़कर एकाकार वस्तु की श्रद्धा करो।

यह आत्मा अनेकरूप दिखता है। 'मैं श्रावक हूँ, मुनि हूँ, दया-दानादि करनेवाला हूँ,' इत्यादि भेद अवस्था में हैं; परंतु स्वभाव तो एकरूप चैतन्य चमत्कार है। इसलिये अब सदा एकाकार आत्मा का ही अनुभव करो। पर्यायबुद्धि का एकांत मत रखो। पर्याय है-ऐसा जानो। भेद है ही नहीं—ऐसा मत मानो परंतु भेद जितना ही आत्मा मत मानो। भेद का लक्ष्य छोड़कर अभेद का आश्रय करो-ऐसा श्रीगुरु का उपदेश है।

नहीं होत अरहंत के ये अष्टादश दोष

परमपूज्य दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम 'नियमसार' की छठवीं गाथा पर हुए पूज्य कानजी स्वामी के प्रवचनों का सार यहाँ दिया जा रहा है। मूल गाथा इसप्रकार है :—

छुहतण्हभीरुरोसो रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
सेदं खेद मदो रइ विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥६॥

क्षुधा, तृषा, भय, रोष, राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मृत्यु, स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा, जन्म और उद्वेग – ये अठारह दोष हैं। ये अठारह दोष अरहंत भगवान के नहीं होते। *[गतांक से आगे]*

ऐसे सर्वज्ञ भगवान को पहचानना वह व्यवहार श्रद्धा है। अब इसका थोड़ा खुलासा कहते हैं :—

वीतराग सर्वज्ञ के, द्रव्य-भाव घातियाकर्मों का अभाव होने से—भय, रोष, राग, मोह, शुभाशुभ चिंता, खेद, मद, रति, विस्मय, निद्रा तथा उद्वेगादि कहाँ से होंगे ? नहीं हो सकते। केवली भगवान के समुद्र जैसे सातावेदनीय कर्मोदय के मध्य, बिन्दुवत् असाता-वेदनीय कर्म का उदय होता है; वह असाता भी, मोहनीय कर्म के अत्यंताभाव में, लेशमात्र भी क्षुधा या तृषा का निमित्त नहीं होती। क्योंकि चाहे जितना असातावेदनीय कर्म का उदय हो तो भी वह मोहनीय कर्म के अभाव में किंचित् भी दु:ख नहीं दे सकता। तो फिर यहाँ तो अनंत गुणे सातावेदनीय कर्म के मध्य, अल्पमात्र (अविद्यमान जैसा) असातावेदनीय कर्म वर्त रहा है; अत: क्षुधा-तृषा की वेदना नहीं हो सकती। क्षुधा-तृषा के सद्भाव में अनंतवीर्य इत्यादि कैसे संभव होंगे ? इसप्रकार वीतराग सर्वज्ञ के क्षुधा-तृषा का असंभव होने से कवलाहार भी नहीं होता। कवलाहार बिना भी उनके (अन्य मनुष्यों को जो असंभव है ऐसा) सुगंधित, सप्तधातुरहित, परमौदारिक शरीररूप, नोकर्माहार के योग्य, सूक्ष्म पुद्गल प्रतिक्षण आते हैं, जिनसे शरीर स्थित रहता है।

भूख लगे और भोजन करे, उसे भगवान नहीं कहते। भगवान के प्रतिक्षण पुण्य के उदय

से अमुक प्रकार के ऐसे रजकण आते हैं कि जिनसे शरीर ज्यों का त्यों बना रहता है। इंद्र को रोग नहीं होता और हजारों वर्ष बाद आहार की वृत्ति होती है; तो इंद्र के द्वारा पूज्य ऐसे सर्वज्ञ भगवान को रोग या आहार हो, यह कैसे संभव ? भगवान के तो क्षुधा, रोग या आहारादि कोई दोष होते ही नहीं। उनके वेदनीय कर्म है, परंतु मोह नहीं है। अर्थात् वह वेदनीय कर्म जली जेवरी के समान है और क्षुधा-तृषा उत्पन्न करने में असमर्थ है।

देखो ! श्रीमद् रायचंद्र भी कहते हैं :—

'वेदनीय आदि चार कर्म वर्त्तें जहाँ - जली जेवरीवत् आकृति मात्र जो।'

भगवान के चार अघातिया कर्म सत्ता में हैं-किंतु जैसे जली हुई रस्सी बाँधने का कार्य नहीं कर सकती; उसीप्रकार वह वेदनीय कर्म भी मोह के अभाव में क्षुधा-तृषा का निमित्त नहीं होता। निचली दशावाले जीवों को भी मोह ही दु:ख का कारण है। पूर्ण दशा होने पर मोह का अभाव हो जाता है, तब क्षुधा-तृषा का दु:ख नहीं होता और आहार जल भी नहीं होता। भगवान के निहार (मल-मूत्र) तो जन्म से ही नहीं होता और भगवान के माता-पिता के भी निहार नहीं होता।

पवित्रता और पुण्य का ऐसा संबंध होता है—अर्थात् घातियाकर्मों के अभाव का और शेष रहे हुए अघातिया कर्मों का ऐसा सहज संबंध होता है कि वीतराग सर्वज्ञ के उन अघातिया कर्मों के फलरूप परमौदारिक शरीर में जरा, रोग और स्वेद होता ही नहीं।

केवली भगवान के भवांतर में उत्पत्ति के निमित्तभूत, शुभाशुभ भाव नहीं होने से, जन्म भी नहीं होता और जिस देह-विलय के बाद भवांतर-प्राप्तिरूप जन्म नहीं होता, उस देह-वियोग को मरण भी नहीं कहा जाता।

इसप्रकार सर्वज्ञ देव अठारह दोषरहित हैं।

इसीप्रकार अन्य शास्त्र में भी गाथा द्वारा कहा है:—

सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो॥

वह धर्म है जहाँ दया है, वह तप है जहाँ विषयों का निग्रह है, वह देव है जो अठारह दोषरहित है; इस बारे में संशय नहीं है।

राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति होना ही आत्मा की हिंसा है, और चैतन्य स्वभाव का भान करके राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति ही न होने देना—उसका नाम दया है। अपने आत्मा को हिंसा के भावों से बचाना ही दया है। पर को तो कोई मार या बचा ही नहीं सकता। अपने शुद्ध चैतन्य की, कषाय भाव से हिंसा न होने देना, वही दया धर्म है।

चैतन्य के भान में एकाग्र होने पर जहाँ विषयों का निग्रह हो जाता है, उसका नाम तप है। जो क्षुधादिक अठारह दोषों से रहित है वही देव है, इस बात में संशय नहीं है।

ऐसे अठारह दोष से रहित निर्दोष परमात्मा को पहचान कर उनकी श्रद्धा करना योग्य है।

आचार्य श्री विद्यानंदस्वामी ने भी श्लोक द्वारा कहा है:—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपायः सुबोधः, स च भवति सुशास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धैः, न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति॥

इष्ट फल की सिद्धि का उपाय सुबोध है अर्थात् मुक्ति प्राप्ति का उपाय सम्यग्ज्ञान है। सुबोध सुशास्त्र से होता है, सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है, इसलिये उनके प्रसाद के कारण आप्त पुरुष बुधजनों से पूज्य हैं। अर्थात् मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से सर्वज्ञदेव ज्ञानी जीवों के द्वारा पूज्य हैं। क्योंकि कृतोपकार को साधु पुरुष (सज्जन) भूलते नहीं हैं।

देखो! यह बहुत सरस (अच्छा) श्लोक है। यह श्री विद्यानंदस्वामी महा निर्ग्रंथ संत थे। आत्मानंद में छठी-सातवीं भूमिका में झूलते थे। उन्होंने इस श्लोक की रचना की है।

इष्टफल अर्थात् मोक्ष। आत्मा को इष्ट तो पूर्णानंद की प्राप्तिरूप मुक्तदशा ही है। पैसा मिले, पुत्र मले, यह वास्तव में आत्मा का इष्ट नहीं; उसमें आत्मा का सुख भी नहीं। जिसमें चैतन्य के परम आनंद की प्राप्ति हो, ऐसी मुक्तदशा ही हमें तो इष्ट है। पुण्य बंध हो और स्वर्ग का इंद्र पद मिले, उसको धर्मी जीव अपना इष्टफल नहीं मानता। जिसे आत्मा की रुचि है, उसको तो मुक्तदशा ही इष्टफल है। मुक्ति के अलावा जिसे कोई भी परवस्तु इष्ट लगे, अच्छी लगे, उसे मोक्ष इष्ट नहीं है; किंतु संसार ही इष्ट है, वह तो मिथ्यादृष्टि है। हमारा श्रेष्ठतम इष्टफल तो मोक्ष पद है और उसकी प्राप्ति का उपाय सुबोध है। चैतन्य स्वभाव का सम्यग्ज्ञान किये बिना लाख उपायों से भी मुक्ति प्राप्त होनेवाली नहीं।

दु:ख क्या है ? चैतन्य का विकृत भाव ही दु:ख है, और उस चैतन्य के भान से विकृति टाल देने पर सहज आनंद रह जाता है, उसका नाम मुक्ति है। ऐसी परमानंदमय मुक्तदशा का उपाय सम्यग्ज्ञान है। लौकिक ज्ञान के विकास को वास्तव में सुविद्या नहीं कहते, मात्र शास्त्र-पठन को भी सुविद्या नहीं कहते। सुविद्या तो उसे कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवान कथित आत्मा का स्वभाव क्या और परभाव क्या ? वह समझे। ऐसा सुबोध ही मुक्ति का कारण है।

आत्मसिद्धि में श्रीमद् भी कहते हैं:—

'सर्व जीव हैं सिद्ध सम जो समझें सो होंय।'

समझ अर्थात् सुबोध—यही मुक्ति का उपाय है। आत्मा की चिरस्थायी शांति का उपाय सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान कैसे हो ? तो कहते हैं कि सुबोध, सुशास्त्र से होता है; और सुशास्त्र वह है जो सर्वज्ञ परमात्मा की ध्वनि में कहे हुए तत्त्वों का उद्घाटन करे—वही सम्यग्ज्ञान का कारण है। इसके अलावा कुशास्त्र से सम्यग्ज्ञान नहीं होता, सुशास्त्र ही उसका निमित्त होता है। और जो समझे उसे ही निमित्त है।

सुशास्त्र की उत्पत्ति आप्त ऐसे सर्वज्ञदेव से होती है। सर्वज्ञ की भाषा सामान्य नहीं होती। 'ओऽम्' ऐसी सहज ध्वनि होती है और उसे सभी श्रोता अपनी-अपनी भाषा में योग्यता प्रमाण समझ लेते हैं। ऐसे सर्वज्ञ की वाणी वह सुशास्त्र है और वही सम्यग्ज्ञान का उपाय है। इसप्रकार मुक्ति के लिये सर्वज्ञ का निर्णय करना चाहिये। उनके कहे हुए तत्त्व का निर्णय करके सम्यग्ज्ञान करना चाहिये। सर्वज्ञ कथित जिनेन्द्र शासन वह वस्तु का स्वभाव है, सर्वज्ञ की वाणी की परंपरा झेलकर संतों ने जो उपदेश दिया है, वह भी भगवान की ही वाणी कही जाती है।

सर्वज्ञ की सत्ता का निर्णय करना चाहिये। जिसको सर्वज्ञ का निर्णय नहीं है, उसे शास्त्र का निर्णय नहीं है और शास्त्र के निर्णय के बिना सम्यग्ज्ञान होता नहीं तथा सम्यग्ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता।

इस तरह सर्वज्ञ के प्रसाद से ही सुशास्त्र की उत्पत्ति और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, अत: वे ही पूज्य हैं। स्वयं अपनी योग्यता से सम्यग्ज्ञान प्रकट किया वहाँ निमित्त में आरोप करके कहते हैं कि हे नाथ! आपके प्रसाद से ही मैंने सम्यग्ज्ञान पाया, आपने ही मुझे सम्यग्ज्ञान दिया।

आत्मसिद्धि में कहा है कि:—'वह तो प्रभुजी ने दिया.....'

क्या इसका आत्मा गुरु के पास था जो उन्होंने दे दिया ? क्या आत्मा कोई किसी को दे सकता है ? किंतु पहले स्वयं अपना भान नहीं था और अब गुरु के उपदेश से वह भान हुआ, तब विनयपूर्वक कहते हैं कि हे नाथ ! आपने परम कृपा करके मुझे आत्मा दिया—ऐसा निमित्त का कथन है।

यहाँ तो कहा—परम इष्ट ऐसी मुक्ति वह सर्वज्ञदेव की कृपा का ही फल है, क्योंकि सर्वज्ञदेव से ही शास्त्र की उत्पत्ति होती है, शास्त्र से ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है, वह सम्यग्ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। इस भाँति मोक्ष का बीज सर्वज्ञ ही हैं, इसलिये वह सर्वज्ञदेव ही बुध पुरुषों से पूजने योग्य हैं, कारण कि किये हुए उपकार को सज्जन वृंद भूलते नहीं। स्वयं जब तक राग की भूमिका में हैं, तब तक उपकारक के प्रति बहुमान और भक्ति का भाव आये बिना रहता नहीं।

सर्वज्ञदेव १८ महादोषों से रहित हैं, उनका वर्णन किया। वीतराग सर्वज्ञदेव के अलावा तीन लोक इन दोषों से व्याप्त हैं और सर्वज्ञदेव ही इनसे रहित हैं—ऐसा छठी गाथा में कहा।

अब छठी गाथा की टीका पूर्ण करते हुए मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव श्लोक द्वारा सर्वज्ञ भगवान श्री नेमिनाथजी की स्तुति करते हैं:—

शतमखशतपूज्यः प्राज्यसद्बोधराज्यः, स्मरतिरसुरनाथः प्रास्तदुष्टाघयूथः।
पदनतवनमाली भव्य पद्मांशुमाली, दिशतु शमनिशं नो नेमिरानंदभूमिः॥

जो सौ इंद्रों से पूज्य हैं, जिनका सद्बोधरूपी (सम्यग्ज्ञानरूपी) राज्य विशाल है, कामविजयी (लौकान्तिक) देवों के जो नाथ हैं, दुष्ट पाप-समूह का जिन्होंने नाश किया है, श्रीकृष्ण ने जिनके चरणों को नमस्कार किया है, भव्यकमल के जो सूर्य हैं अर्थात् भव्योंरूपी कमलों को विकसित करने में जो सूर्य के समान हैं; वे आनंद-भूमि नेमिनाथ, आनंद के स्थानरूप नेमिनाथ भगवान हमें शाश्वत सुख प्रदान करो।

देखे ! यह टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव स्वयं महाब्रह्मचारी हैं, और सर्वज्ञ की स्तुति करते हुए भी उन्होंने ब्रह्मचारी ऐसे श्री नेमिनाथ प्रभु की स्तुति की है। सर्वज्ञपद तो सभी समान हैं, उनमें कहीं गुणों की हीनाधिकता नहीं है। भगवान अरहंत के शरीर तो होता है, परंतु आहार

या क्षुधा-तृषा आदि का अभाव होता है। ऐसे सर्वज्ञ पुरुष ही आप्त हैं और वे ही आत्म-हित के लिये माननेयोग्य हैं। मोक्ष का उपाय सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान सुशास्त्र से होता है और सुशास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से होती है। इसलिये मोक्ष के कामी जीवों को ऐसे सर्वज्ञदेव को पहचान कर उनकी पूजा करनी योग्य है।

ऐसे सर्वज्ञ में यहाँ श्री नेमिनाथ प्रभु की स्तुति करते हुए मुनिराज कहते हैं कि भगवान सौ इंद्रों से पूज्य हैं, उनके सद्बोधरूपी राज्य है। केवलज्ञान में जिस प्रमाण में जाना है—उसी प्रमाण में होता है, ज्ञान की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। ज्ञान का पूर्ण विकास हुआ और संपूर्ण जगत का ज्ञान हो गया वही सच्चा राज्य है, उस ज्ञान का राज्य विशाल है।

इन नेमिनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहते हैं कि भगवान कामविजयी ऐसे लौकांतिक देवों के नाथ हैं। लौकांतिक देव पंचम स्वर्ग में रहते हैं, वह ब्रह्मचारी ही होते हैं और एकावतारी भी होते हैं, उन्हें ब्रह्मर्षि कहते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी देवें के जो नाथ हैं ऐसे नेमिनाथ भगवान की स्तुति की है। लौकांतिक देव भी उनके चरणों की वंदना करते हैं इसलिये निमित्तरूप से भगवान को नाथ कहा है। वे देव आत्मा की सर्वज्ञ शक्ति को माननेवाले सम्यग्दृष्टि हैं अर्थात् आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान को प्राप्त कर चुके हैं। उसे टिकाये रखकर, अब तक अप्राप्त—ऐसी सर्वज्ञदशा की प्राप्ति करते हैं, उसमें भगवान निमित्त हैं—इसलिये भगवान को नाथ कहा है। नाथ अर्थात् योग—क्षेम के करनेवाले। जो अप्राप्त है उसे प्राप्त करवा देना योग है और जो मिला है अर्थात् प्राप्त हो चुका है उसकी रक्षा करना क्षेम है। ऐसे योग और क्षेम करनेवाले को नाथ कहते हैं।

भगवान को लौकांतिक देवों का नाथ कहा—उसमें से ऐसा अभिप्राय निकलता है कि वे लौकांतिक देव सम्यग्दृष्टि हैं। उन्होंने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया उसके भगवान रक्षक हैं और अप्राप्त—ऐसी सर्वज्ञता उसके प्राप्त करवाने में भगवान निमित्त हैं। भगवान जिसके नाथ हों ऐसे जीव को स्वभाव के भान से सम्यग्दर्शन तो प्राप्त होता ही है। उस सम्यग्दर्शन का तो अब विरह नहीं होने दें और अप्राप्त—ऐसी परमात्मदशा को प्राप्त करावें। इसप्रकार भगवान सम्यग्दृष्टियों के ही नाथ हैं।

पुनश्च, भगवान ने समस्त दुष्ट पापों का नाश किया है और श्री कृष्ण ने उनके चरणों में

नमन किया है। वह श्रीकृष्ण सम्यग्दृष्टि थे और नेमिनाथ भगवान के समय में हुए हैं। जब भगवान अरहंत पद में विराजते थे, तब की यह स्तुति है।

भव्यजीवरूपी कमल को विकसित करने में भगवान सूर्य समान हैं। जैसे कमल में खिलने की शक्ति है, लकड़ी में नहीं है; उसीप्रकार भव्यजीव चैतन्यस्वभाव की शक्ति का भान करके उसमें एकाग्रता से आत्म-विकास कर लेते हैं, तब भगवान को निमित्त कहा जाता है। जिस जीव में विकास की योग्यता ही नहीं उसके लिये भगवान निमित्त भी नहीं हैं। त्रिकाल सत् है और उसकी समय-समय की पर्याय भी स्वतंत्र है, उसमें निमित्त के कारण कुछ भी नहीं होता। जिनमें विकसित होने की शक्ति है ऐसे भव्य जीवों के लिये ही भगवान निमित्त हैं।

पुनश्च, वह सर्वज्ञ भगवान आनंद की भूमि हैं, जिनकी चैतन्यभूमि में आनंद के ही फल पकते हैं। असंख्यप्रदेशी आत्मा तो आनंद का ही क्षेत्र है, दु:ख उसके मूल स्वभाव में है ही नहीं। नेमिनाथ भगवान आनंद के ही स्थान हैं। ऐसे श्री नेमिनाथ भगवान हमें शाश्वत् सुख प्रदान करें। यह निमित्त से कथन है, इसमें अपना पूर्णानंद प्रकट करने के लिये जो उत्साह जागृत हुआ है, वह बताया है। हे नाथ! जैसे आप आनंद भूमि हो वैसे ही हमारा आत्मा भी आनंद की भूमि है, उसमें श्रद्धा-ज्ञान किया है और उसी में लीनता करके हम पूर्णानंद प्रकट करेंगे, तब वह शाश्वत्रूप से टिका रहेगा। पूर्णानंद को प्राप्त आत्मा पुन: संसार में वापस नहीं आता। जब तक आत्मा रहेगा तब तक उसका आनंद भी शाश्वत रहेगा, आत्मा का आनंद कभी आत्मा से जुदा नहीं होगा। 'भगवान हमें शाश्वत सुख प्रदान करो' ऐसा कहा है। भक्ति में तो निमित्त से कथन होता है, परंतु भावना तो निज आत्म-स्वभाव की ही है न? इसप्रकार भगवान सर्वज्ञ अठारह दोषरहित होते हैं यह कहा।

सिद्धांताचार्य पंडित फूलचंदजी बनारस, पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा एवं पंडित नेमीचंदजी पाटनी आगरा के प्रवचनों का विशेष आयोजन

जयपुर - श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धांत महाविद्यालय के वार्षिक कार्यक्रम के अंतर्गत २१-१२-७७ से ४-१-७८ तक सिद्धांताचार्य पंडित फूलचंदजी बनारस, पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा तथा पंडित नेमीचंदजी पाटनी आगरा के प्रवचनों का विशेष आयोजन जयपुर में किया जा रहा है।

बाहर से पधारनेवाले बंधुओं के लिये नि:शुल्क आवास और सशुल्क भोजन की व्यवस्था है। इसके लिये वे हमें तत्काल सूचित करें ताकि समुचित व्यवस्था की जा सके।

द्रव्यसंग्रह प्रवचन

वृहद्द्रव्यसंग्रह पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन सन् १९५२ में हुए थे। जिज्ञासु पाठकों के लाभार्थ उन्हें यहाँ क्रमशः दिया जा रहा है।

[गतांक से आगे]

समुद्घात के सात भेद हैं—१. वेदना, २. कषाय, ३. विक्रिया, ४. मारणान्तिक, ५. तैजस, ६. आहार और ७. केवली समुद्घात। देखिये! यहाँ इस समुद्घात की बात लेकर के ऐसा बताया है कि समुद्घात के समय जीव के प्रदेश फैलते हैं, वह भी स्वयं के ही कारण से हैं। 'देहप्रमाण आकार से बहुत समय रहता है, वह तो स्वयं के कारण से है, किंतु समुद्घात पर के (अन्य के) कारण से होता होगा', ऐसा नहीं है। समुद्घात होता है, वह भी जीव की ही अवस्था का धर्म है। समुद्घात के समय जैसा आकार है, वह भी स्वयं के ही कारण से है।

स्वयं के मूल शरीर को छोड़े बिना आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर निकलकर उत्तर देह के प्रति गमन करें उसको समुद्घात कहते हैं। जीव असंख्य प्रदेशी है, यह निश्चय है, शरीर प्रमाण है, यह व्यवहार है। तथा समुद्घात होता है, तब उसके प्रदेश फैलते हैं, यह भी व्यवहार है। अब सात समुद्घात की व्याख्या करते हैं:—

१. वेदना समुद्घात—तीव्र वेदना होते समय जीव के प्रदेश मूल शरीर को बिना छोड़े शरीर से बाहर फैलें उसको वेदना समुद्घात कहते हैं। शरीरप्रमाण के अतिरिक्त समुद्घात के समय ऐसी योग्यता भी जीव में होती है, ऐसा यहाँ बताया है।

२. कषाय समुद्घात—तीव्र क्रोधादि कषाय होते समय मूल शरीर को बिना छोड़े आत्मा के प्रदेश दूसरे को मारने के लिये शरीर से बाहर निकलें उसको कषाय समुद्घात कहते हैं। देखिये! किसी जीव को तीव्र क्रोध होता है, तब उसको ऐसा समुद्घात होता है। उसको स्वयं को उसकी (प्रदेशों की) खबर नहीं होती तो भी उसके असंख्य प्रदेशों की ऐसी पर्याय हो जाती है। तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया अथवा तीव्र लोभ—इन चार कषायों के निमित्त से ऐसा समुद्घात हो जाता है। सामनेवाले जीव को मार नहीं सकता, बिगाड़ भी नहीं सकता। वैसे खबर भी नहीं होती कि यह समुद्घात है। लेकिन किसी जीव को तीव्र क्रोधादि कषाय में ऐसा हो जाता है।

३. विक्रिया समुद्घात—किसी प्रकार के काम बगैर ही हमेशा विक्रिया होने से जो समुद्घात होता है, वह विक्रिया समुद्घात है। देव भगवान के समीप नृत्य करें तब अनेक प्रकार की विक्रिया करते हैं, नारकी देह की विक्रिया करते हैं। भगवान के समीप इंद्र नृत्य करे तब हजारों रूप बनाता है, उसमें आत्मा के प्रदेश भी उसप्रकार से फैलते हैं; इसको विक्रिया समुद्घात कहते हैं। चक्रवर्ती वगैरह को भी विक्रिया होती है। निश्चय से तो आत्मा में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का भी भेद नहीं है। तो भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव जैसे हैं तदनुरूप यथार्थ ज्ञान तो करना चाहिये।

४. मारणान्तिक समुद्घात—मरण के अंतिम समय मूल शरीर को छोड़े बगैर जहाँ की नवीन आयु बाँधी हो वहाँ जाकर आत्मा के प्रदेश स्पर्श कर आते हैं, इसको मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं। देखो! लोग कहते हैं कि 'जहाँ जाना है, वह स्थान देख आया है' यह तो असत्य है। लेकिन जीव के प्रदेशों की किसी समय ऐसी लायकात—योग्यता होती है कि जहाँ जाना होता है, वहाँ उसके प्रदेश जाकर वापिस आते हैं। उसको स्वयं को उसकी (प्रदेशों की) खबर नहीं होती। ऐसा समुद्घात किसी को होता है, किसी को नहीं होता है—जिसकी योग्यता हो उसको होता है। सबको नहीं होता। इस समुद्घात के साथ सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि का संबंध नहीं है।

इन सभी समुद्घात में यह बात समझ लेना कि जिस जीव की उसप्रकार की योग्यता हो उसको ही ये समुद्घात होते हैं, सब जीवों को नहीं होते। देखो! यह केवलीगम्य स्वरूप है, यह तर्क का विषय नहीं है।

५. तैजस समुद्घात—इसके दो भेद हैं—शुभ और अशुभ। यह समुद्घात मुनियों को ही होता है। स्वयं के मन में अनिष्ट भाव उत्पन्न होने के कारणरूप पदार्थ को देखकर जिसके मन में क्रोध उत्पन्न हो ऐसे मुनि के बायें कंधे से एक पुतला निकलता है। सिंदूरी रंग और ठिगने कद का कांतिवाला तथा बारह योजन लम्बा, भूम्यांगुलि के संख्यातवें भाग प्रमाण मूल विस्तारवाला तथा नवयोजन चौड़ा विस्तारवाला बिल्ली के आकार को धारण करनेवाला पुतला निकलता है। वह बायीं ओर प्रदक्षिणा देकर मुनि को जिसके ऊपर क्रोध हुआ हो उस पदार्थ को जला देता है, फिर वह मुनि को भी जला देता है, और स्वयं भी (पुतला) जल जाता है। मुनि नरक में जाता है। इस समय जीव के प्रदेश मूल शरीर को छोड़े बगैर बाहर फैलते हैं। इसका नाम अशुभ तैजस समुद्घात है।

जैसे द्वीपायन मुनि को क्रोध होने से उनके शरीर में से पुतला निकला और द्वारिका को जला डाला उस समय अशुभ तैजस समुद्घात हुआ। श्री नेमिनाथ भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा कहा गया था कि बारह वर्ष के पश्चात् द्वीपायन मुनि द्वारा द्वारिका भस्म हो जायेगी। तब द्वीपायन को ऐसा हुआ कि मैं दूर चला जाऊँ, जिससे मेरे द्वारा द्वारिका न जले। देखिये! इनको जिनवाणी की श्रद्धा नहीं थी। फिर बारह वर्ष पूरे हुए पहिले वे द्वारिका आते हैं, वहाँ राजकुमार शराब के नशे में उनको पत्थर मारते हैं और द्वीपायन मुनि क्रोधित होते हैं, तैजस समुद्घात होकर द्वारिका को भस्म करते हैं। देखो! क्रोध हुआ इसलिये ऐसा समुद्घात हुआ—ऐसा भी यथार्थ नहीं है। जीव के प्रदेशों की ही उस प्रकार की योग्यता है। अशुभ तैजस समुद्घात में क्रोध का निमित्त है और शुभ तैजस समुद्घात में करुणा का निमित्त है। कोई महारोग, दुष्काल वगैरह से जगत को पीड़ित देखते जिनको करुणा उत्पन्न हुई है, ऐसे परम संयमनिधान महर्षि के शरीर के दाहिने कंधे से पूर्वोक्त माप का सुंदर सौम्य आकार का पुतला निकलता है और दाहिनी ओर प्रदक्षिणा करके दुर्भिक्ष रोग वगैरह दूर करके वापिस शरीर में प्रवेश कर जाता है। इसे शुभ तैजस समुद्घात कहते हैं। देखो! मुनि अवस्था में ऐसा करुणा का भाव भी किसी समय आ जाता है। ऐसी करुणा आये उससे कुछ मिथ्यात्व नहीं हो जाता। यहाँ शुभ तैजस में मुनि को परम संयमनिधान कहा और अशुभ तैजस में 'परम' शब्द का प्रयोग नहीं किया। देखो! असंयमी जीव पर करूणा आये वह पाप नहीं है, पुण्य है। मुनिदशा में भी ऐसा भाव आता है। अज्ञानी जीव उसको पाप मानते हैं, यह बात झूठी है। समक्ष के जीवों की रक्षा हो और भविष्य में वे पाप करें, उसका पाप मुनि को नहीं है। और कोई शुभभाव से, अनुकंपा से धन देकर पशु को छुड़ायें वह भी पाप नहीं है, शुभभाव है।

अरे! अंतर में चैतन्य की सुख-शैय्या का जो मोक्षमार्ग है, उसको अज्ञानी जीवों ने तहस-नहस कर डाला है। देखिये, इन जीवों के प्रदेशों का स्वभाव! अंदर करुणा का भाव आने से कोई को ऐसा समुद्घात होता है। लेकिन दया आयी इसलिये ऐसा समुद्घात हुआ, ऐसा नहीं है। देखो! कुदरत (प्रकृति) में ऐसा मेल है कि क्रोध के समय बांये कंधे से पुतला निकलता है और करुणा के समय दाहिने कंधे से निकलता है। करुणा के विकल्प समय भी सभी मुनियों को ऐसा नहीं होता। जिसको वैसी योग्यता और वैसी ऋद्धि हो उसको ही ऐसा समुद्घात होता है।

इसमें शुभभाव है, पुण्य है। असंयमी जीव बचकर फिर पाप करे इससे उसका पाप कुछ बचानेवाले को नहीं लगता। बचानेवाले ने शुभभाव किया उसका उसको पुण्य है। छठवें गुणस्थान में झूलते परम संयमी भावलिंगी संत को भी करुणा का भाव आ जाता है। उसको जो पाप मानता है, उसको तो जैन दर्शन के स्थूल व्यवहार की भी खबर नहीं है। गृहस्थ को अथवा मुनि को शुभभाव आये वह पुण्य है, वह धर्म नहीं है। भले, समक्ष का जीव असंयमी हो, लेकिन इस जीव को तो स्वयं के शुभभाव से पुण्य है। वह धर्म भी नहीं और पाप भी नहीं।

परम संयमी मुनि को करुणा होने से शुभ तैजस समुद्घात होता है। वहाँ उसके निमित्त से दुर्भिक्ष रोग वगैरह दूर हो जाते हैं, ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है। समक्ष वैसी योग्यता थी, और यहाँ जीव के प्रदेशों में उसप्रकार की पर्याय की योग्यता थी। अशुभ तैजस समुद्घातवाले मुनि तो संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं। शुभ तैजस समुद्घातवाले मुनि संयम से भ्रष्ट नहीं होते।

६. आहार समुद्घात—आहारक शरीर नाम की एक लब्धि होती है। यह लब्धि भावलिंगी संत को ही होती है। इस परमऋद्धि के धारक परमर्षि मुनिराज को जब पद अथवा पदार्थ में कुछ सूक्ष्म शंका पैदा हो, तब मस्तिष्क में से निर्मल स्फटिक जैसा सुंदर रूप धारण करनेवाला एक हाथ का पुतला निकलकर अंतर्मुहूर्त में जहाँ केवली भगवान विराजते हैं, वहाँ जाता है और केवली के दर्शन से मुनि को पद अथवा पदार्थ का निश्चय हो जाने से वापिस वह पुतला मूलस्थान को आ जाता है।

शुभ तैजस समुद्घात की अपेक्षा इसमें विशेषता है। इसमें मस्तिष्क से पुतला निकलता है। ऐसा पुतला निकले तब मुनि के आत्मा के प्रदेश भी उस प्रमाण से फैलते हैं, उस समय आहार समुद्घात होता है। इसका सार अंत में ऐसा ग्रहण करना कि शुद्धात्मा की भावना भूला इससे ऐसे शरीर का ग्रहण हुआ है। इसलिये शरीर का ममत्व छोड़कर देह से भिन्न ऐसी शुद्धात्मा की भावना करना।

सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित छहों द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतंत्र हैं। उसमें जीव असंख्य प्रदेशी नित्य अवस्थित रहकर उसका संकोच विस्तार होता है, वह पर्याय की स्वतंत्रता है। यह बात चलती है। एक शरीर छोड़कर दूसरे भव में दूसरा शरीर धारण करने जाता है, वहाँ बीच में कार्माण और तैजस शरीर सहित गमन करता है। वहाँ पूर्व के शरीर प्रमाण जीव के अरूपी प्रदेशों का आकार रहता है। वह भी स्वतंत्र योग्यता से है। कोई कहता है कि मरण के बाद कुछ

दिन घर के खपरा (नलिया) वगैरह स्थान पर रुका रहता है, यह बात तो खोटी (असत्य) है। एक दो अथवा तीन समय में ही दूसरा शरीर धारण करता है।

७. केवली समुद्घात—और फिर किसी सर्वज्ञ केवलज्ञानी को तेरहवें गुणस्थान के अंत में दंड, कपाट, प्रत्तर, लोकपूरण ऐसे चार समय में आत्मा के प्रदेश चौड़े होते हैं और चार समय में क्रम से संकुचित होकर मूल शरीर प्रमाण हो जाते हैं। जड़कर्म अथवा ज्ञान के कारण से नहीं, लेकिन स्वतंत्र उस जाति की योग्यता से यह अवस्था होती है और चार अघातिकर्म उसके कारण खिरते हैं। लोकपूरण समुद्घात के समय केवली भगवान के आत्मा के प्रदेश नरकक्षेत्र की अति शीत-उष्णता में भी फैलते हैं; तो भी स्वयं के अनंत चतुष्टय को ही केवली भगवान अनुभव करते हैं, नरकक्षेत्र की प्रतिकूलता को अल्पमात्र भी अनुभव नहीं करते। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ कुछ संबंध नहीं है।

देखो! व्यंजनपर्याय-जीव के प्रदेशों का आकार अधिक चौड़ा हुआ इससे अर्थपर्याय अर्थात् प्रदेशत्वगुण के अतिरिक्त शेष गुणों के परिणमन में घटती-बढ़ती नहीं होती। ऐसी बात सर्वज्ञ बिना नहीं होती।

अब इन पर नय की अपेक्षा कहते हैं। निश्चय से आत्मा त्रिकाल लोकाकाश-प्रमाण असंख्य प्रदेशी है और व्यवहार से शरीर-प्रमाण तथा सात प्रकार के समुद्घात-प्रमाण छोटी-बड़ी अवगाहनावाला है। वर्तमान में गुरु-लघु अर्थात् छोटे-बड़े शरीर-प्रमाण से जीव कहा, वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से है। और जीव का नित्य असंख्य प्रदेशपना है, वह निश्चय से है। लोकाकाश प्रमाण निज असंख्य प्रदेशों का धारक आत्मा है। ऐसा स्वभाव और स्वभाववान आत्मा भिन्न नहीं है।

यहाँ 'वा' शब्द से ग्रंथकार ऐसा कहते हैं कि स्वयं संवित्ति (अतीन्द्रिय शुद्ध आत्मज्ञान) से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और केवलज्ञान उत्पन्न होता है। पर्याय के आश्रय से सम्यक्त्व और केवलज्ञान नहीं होता। संवर, निर्जरा, मोक्षपर्याय की भी अपेक्षा छोड़कर त्रिकाली स्वचैतन्यमूर्ति द्रव्यस्वभाव—उसका निश्चय संवेदन; उससे ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है, पराश्रय से अथवा व्यवहार से नहीं होता। *[क्रमशः]*

ज्ञान-गोष्ठी

सायंकालीन तत्त्वचर्चा के समय विभिन्न मुमुक्षुओं द्वारा पूज्य स्वामीजी से किये गये प्रश्न और स्वामीजी द्वारा दिये गये उत्तर।

प्रश्न– 'द्रव्यानुसारिचरणं, चरणानुसारि द्रव्यं' अर्थात् द्रव्यानुसारी चरण और चरणानुसारी द्रव्य–उसका अर्थ क्या ?

उत्तर– छठे गुणस्थान में जो शुद्धता होती है वह द्रव्य के ही आश्रय से होती है; परंतु यहाँ राग की मंदता कितने अंशों में है, उसके ज्ञान से शुद्धता कितनी है–यह देखा जाता है। आश्रय का अर्थ यह नहीं है कि राग के आश्रय से धर्म होता है। शुद्धता जितने प्रमाण में होती है, उतने ही प्रमाण में राग की मंदता होती है; और राग की मंदता जितनी होती है, उसी प्रमाण में शुद्धता भी अपने अर्थात् शुद्धता के कारण से होती है। इसी को द्रव्य अनुसारी चरण तथा चरण अनुसारी द्रव्य होता है–ऐसा कहा जाता है। ऐसा प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन के अंत में श्लोक १२ में कहा गया है।

प्रश्न– व्यवहार का निषेध करने से तो जीव अशुभ में चला जायेगा ?

उत्तर– अरे भाई! जो शुभरागरूप व्यवहार में आया है, वह अशुभराग को छोड़ करके ही तो आया है। अब उसको स्व का—निश्चय का आश्रय कराने के लिये व्यवहार का निषेध कराते हैं। वहाँ अशुभ में जाने की बात ही कहाँ है ?

प्रश्न– आत्मा में होनेवाले शुभाशुभभावों का मूल उपादान कौन है ?

उत्तर– अशुद्ध उपादान से आत्मा स्वयं शुभाशुभभाव में व्यापक होकर कर्त्ता होने से स्वयं [आत्मा] उनका कर्ता है और जब शुद्ध उपादान से देखें तो पुण्य–पाप भाव आत्मा का स्वभाव–भाव न होने से और वह शुभाशुभभाव पुद्गल के लक्ष्य से होता होने से पुद्गल का कार्य है। पुद्गल उसमें व्यापक होकर कर्ता होता है। जब स्वभाव के ऊपर दृष्टि जाती है, तब ज्ञानी योग और उपयोग का [राग का] स्वामी होता न होने से उसका [राग का] कर्ता नहीं है, किंतु ज्ञानी के ज्ञान में राग निमित्त होता है।

प्रश्न– गृहस्थ को पुण्य परिणाम का क्षय करना—ऐसा आप कहते हो ?

उत्तर– पुण्य परिणाम का क्षय तो जब शुद्धोपयोग पूर्ण हो तब होता है। निचली भूमिका में तो पुण्य परिणाम का क्षय नहीं हो सकता; फिर भी पुण्य परिणाम हेयरूप है, क्षय करने लायक है—ऐसी दृष्टि प्रथम करनी चाहिये। पुण्यभाव हेय है, क्षय करनेयोग्य है; ऐसा जो नहीं मानता–वह मिथ्यादृष्टि है। निचली भूमिका में शुभभाव आये बिना रहता नहीं; फिर भी पहले दृष्टि में उसका निषेध होना चाहिये।

प्रश्न– जैसा भाव करे वैसा होता है या जो होना होता है वह होता है ?

उत्तर– होना हो वही होता है, परंतु करता है इसलिये होता है। जो होनेवाला था उसका कर्ता होकर करता है। वास्तव में तो 'होना था सो हुआ' इसप्रकार किसको ? कि जो स्वभाव का निर्णय करे उसको। ज्ञान स्वभाव की दृष्टि करे तभी 'होना होगा वही होगा' इसप्रकार सम्यक् निर्णय होता है।

प्रश्न– होना होगा तो होगा, ऐसा मानने पर पुरुषार्थ निर्बल पड़ जाता है न ?

उत्तर– होना होगा वह होगा–वह कब ? कि पर्याय का लक्ष्य द्रव्य के ऊपर जाये तब सम्यक् निर्णय होता है। इसमें विशेष पुरुषार्थ है।

प्रश्न– आगम के व्यवहार और अध्यात्म के व्यवहार की परिभाषा कीजिये ?

उत्तर– स्वरूप की दृष्टि होने पर जो शुद्ध परिणमन होता है, वह अध्यात्म का व्यवहार है और महाव्रत, त्रयगुप्ति आदि शुभराग आगम का व्यवहार है।

प्रश्न– किसी अपेक्षा से द्रव्य भी परिणामी है या नहीं ?

उत्तर– द्रव्य तो अपरिणामी है, बंध मोक्ष के परिणाम को द्रव्य नहीं करता है। परंतु पर्यायदृष्टि से कथन करना हो तो पर्याय ध्रुव में से आती है और ध्रुव में ही जाती है, इसलिये पर्याय अपेक्षा से द्रव्य परिणमन करता है। द्रव्य द्रव्यदृष्टि से निष्क्रिय है, पर्यायदृष्टि अपेक्षा से सक्रिय है।

प्रश्न– अभव्य को केवलज्ञान का आवरण करनेवाला केवलज्ञानावरणी है या नहीं ?

उत्तर– है। अभव्य को भी शक्ति अपेक्षा से केवलज्ञान है अर्थात् उसके भी केवलज्ञान होने की शक्ति विद्यमान है, अत: केवलज्ञानावरणी आवरण होता है।

प्रश्न– क्या बिना गुण की कोई पर्याय होती है ?

उत्तर– हाँ—भव्यता वह पर्याय है परंतु उसका कोई गुण नहीं होता। गुण न होने पर भी भव्यत्व पर्याय होती है और सिद्धदशा होने पर वह पर्याय नहीं होती।

प्रश्न– क्रियानय और ज्ञाननय की मैत्री का क्या अर्थ है ?

उत्तर– पंडित जयचंदजी ने ऐसा कहा है कि साधक जीव के शुद्धता और अशुद्धता दोनों ही एक साथ रहती हैं—इसका नाम मैत्री है; जबकि पंडित राजमल्लजी ने कलशटीका में ऐसा कहा है कि—अशुद्धता की निवृत्ति वह मैत्री है—अशुद्धि रहे वह मैत्री नहीं, अर्थात् शुद्धता हुई, वह द्रव्य के साथ मैत्री है।

प्रश्न– परिणामी निश्चय से अपने परिणाम का कर्ता है तथापि पूर्व पर्याय का व्यय-कर्ता है-यह कथन किसप्रकार है ?

उत्तर– वास्तव में तो उत्पाद की पर्याय का कर्ता उत्पाद ही है, किंतु अभेद करके उपचार से परिणामी को कर्ता कहा गया है। परंतु द्रव्य तो परिणमता ही नहीं, वह निष्क्रिय है; पलटनेवाली तो पर्याय है। व्यय को उत्पाद का कर्ता कहना भी व्यवहार ही है। षट्कारक का परिणाम ध्रुव और व्यय की अपेक्षारहित स्वयंसिद्ध उत्पाद होता है।

वह तो घर नहीं..... जेलखाना है।

श्रावक जिनपूजा की तरह हमेशा गुरु की उपासना तथा शास्त्र का स्वाध्याय करे। समस्त तत्त्वों का निर्दोष स्वरूप जिससे दिखे ऐसा ज्ञान-नेत्र गुरुओं के एवं जिनवाणी के प्रसाद से ही प्राप्त होता है।

जो जीव निर्ग्रंथ गुरुओं को मानता नहीं, उनकी पहचान और उपासना करता नहीं, उसको तो सूर्य उगे हुए भी अंधकार है। इसीप्रकार वीतरागी गुरुओं के द्वारा प्रकाशित सत्शास्त्रों का जो अभ्यास नहीं करता, उसे नेत्र होते हुए भी विद्वान लोग उसको अंधा कहते हैं। विकथा पढ़ा करे और शास्त्र स्वाध्याय न करे-उसके नेत्र किस काम के ? श्रीगुरु के पास रह कर जो शास्त्र नहीं सुनता और हृदय में धारण नहीं करता उस मनुष्य के कान तथा मन नहीं हैं, ऐसा कहा है।

इसप्रकार देवपूजा, गुरुसेवा और शास्त्रस्वाध्याय—ये श्रावक के हमेशा के कर्तव्य हैं। जिस घर में देव-गुरु-शास्त्र की उपासना नहीं होती, वह तो घर नहीं; परंतु जेलखाना है।

—पूज्य कानजीस्वामी : पद्मनंदि पंचविंशतिका का प्रवचन

समाचार दर्शन

सोनगढ़—पूज्य गुरुदेवश्री सुखशांति में विराज रहे हैं। उनका स्वास्थ्य अब बिल्कुल ठीक है। प्रातः समयसार पर एवं दोपहर को समयसार कलश पर मार्मिक प्रवचन हो रहे हैं। मद्रास एवं कुरावड़ में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा होनी है, तदर्थ स्वामीजी को आमंत्रित करने हेतु अनेक मुमुक्षु भाई पधारे थे; बम्बई में जन्मजयंती महोत्सव में पधारने के लिये आग्रह करने हेतु एक प्रतिनिधि मंडल भी आया था। पूज्य स्वामीजी ने आश्वासन दिया है कि अगर स्वास्थ्य ठीक रहा तो वे अवश्य पधारेंगे। अभी स्वामीजी के प्रवास का कार्यक्रम नहीं बना है। जैसे ही कार्यक्रम बनेगा शीघ्र प्रकाशित किया जायेगा।

इंदौर—अष्टाह्निका पर्व के अवसर पर स्थानीय रामशाह मंदिर, मल्हारगंज में नन्दीश्वरद्वीप मंडल विधान का आयोजन किया गया। इस अवसर पर वाणीभूषण पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा के छहढाला, मोक्षमार्गप्रकाशक तथा बारह भावनाओं पर आध्यात्मिक मार्मिक प्रवचन हुए। स्थानीय विद्वान पंडित रमेशचंद्रजी शास्त्री के भी षट्आवश्यक तथा रात्रिभोजन आदि विषयों पर गंभीर प्रवचन हुए। समाज ने दोनों विद्वानों को मंत्र-मुग्ध होकर सुना व उनकी प्रवचन शैली की सराहना की। अन्त में श्री मिश्रीलालजी गंगवाल की अध्यक्षता में दोनों विद्वानों का सम्मान किया गया। **—मनोहरलाल काला**

जयपुर—श्री सीमन्धर जिनालय टोडरमल स्मारक भवन में अष्टाह्निका पर्व सानंद संपन्न हुआ। सिद्धचक्र मंडल विधान की जयमाला पर डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल के सारगर्भित प्रवचन हुए। आपके प्रवचनों से महाविद्यालय के छात्रों के अतिरिक्त बापूनगर की समाज ने भी लाभ उठाया। **— अखिल बंसल**

घुवारा (छतरपुर)—दिनांक ३-११-७७ तक दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल बरायठा के तत्त्वावधान में पंचदिवसीय वीतराग-विज्ञान आध्यात्मिक शिक्षण शिविर सानंद संपन्न हुआ। शिविर में लगभग २५० व्यक्तियों ने भाग लिया। लघु जैनसिद्धांत प्रवेशिका, समयसार, छहढाला आदि विषयों पर कक्षायें चलती थीं। इस अवसर पर आत्मधर्म के अनेक ग्राहक बनाये गये तथा ३००) रुपये का सत्साहित्य बिका। **—विजयकुमार जैन**

कुरावड़—स्थानीय श्री सीमन्धर दिगम्बर जैन चैत्यालय की प्रतिष्ठा वैशाख सुदी १३

दिनांक २०-५-७८ को संपन्न होना निश्चित हुआ है। इस अवसर पर यदि स्वास्थ्य अनुकूल रहा तो पूज्य कानजीस्वामी भी पधारेंगे। —अम्बालाल जैन

मौ—विगत दिनों यहाँ ब्रह्मचारी हेमराजजी, ब्रह्मचारी गेंदालालजी, ब्रह्मचारी देवीलालजी तथा पंडित केशरीचंदजी 'धवल' पधारे। प्रतिदिन कक्षाओं तथा शास्त्र-सभा का आयोजन किया गया। स्थानीय समाज ने सभी विद्वानों के मार्मिक प्रवचनों का रसास्वादन किया। —मंत्री, दि० जैन नवयुवक संघ

कुशलगढ़—विगत दिनों गुजरात धर्मचक्र का शुभागमन हुआ। स्थानीय उपजिलाधीश महोदय ने धर्मचक्र की अगवानी की। आस-पास के गँवों से हजारों लोगों ने आकर जुलूस की शोभा बढ़ाई। अध्यात्मप्रवक्ता पंडित बाबूभाई मेहता तथा पंडित ज्ञानचंदजी विदिशावालों के सारगर्भित प्रवचन हुए। तीर्थ सुरक्षा फंड में ५००१) रुपये प्राप्त हुए। सभी कार्य सानंद संपन्न हुए। — मथुरालाल शाह

नवीन वीतराग-विज्ञान पाठशालाओं का शुभारंभ

भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति के निरीक्षक पंडित गोविंदप्रसादजी के पाठशालाओं के निरीक्षण के दौरान बम्हौरी (छतरपुर), बम्हौरी लड़ाई, दलपतपुर और रहली में नवीन पाठशालाओं की स्थापना हुई। निरीक्षक महोदय की रिपोर्ट के अनुसार रहली, दलपतपुर जैसे अनेक गाँव हैं, जिनमें काफी अनुकूल वातावरण बना है। यहाँ पर शीघ्र ही दो-दो, तीन-तीन पाठशालायें चालू हो जावेंगी। — मंत्री, पाठशाला समिति

आध्यात्मिक साप्ताहिक गोष्ठी का आयोजन

श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धांत महाविद्यालय, जयपुर के छात्रों द्वारा प्रति सप्ताह रविवार को आध्यात्मिक गोष्ठी का आयोजन किया जाता है। अभी तक की आयोजित गोष्ठियों में—'कार्य की उत्पत्ति में निमित्त का स्थान', 'तत्त्वज्ञान में संस्कृत भाषा का स्थान', 'आत्महित में देव-शास्त्र-गुरु का स्थान', आदि विषय मुख्य रहे। — संतोषकुमार जैन

परीक्षा तिथि निश्चित

श्री वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षा बोर्ड, जयपुर की शीतकालीन परीक्षायें दिनांक ४, ६ व ७ फरवरी, १९७८ तद्नुसार शनिवार, सोमवार व मंगलवार को होंगी। विस्तृत कार्यक्रम रोल नंबरों के साथ संबंधित संस्थाओं को शीघ्र भेजा जावेगा। — मंत्री, परीक्षा बोर्ड

पाठकों के पत्र

गुना (म.प्र.) से विजयबैन लिखती हैं—

सितंबर के आत्मधर्म में पूज्य बहिनश्री के ६४ विचार-बिंदु पढ़ने को मिले। पढ़कर ऐसा लगा कि पिछले अनंत जन्मों में भी ऐसी बात कभी नहीं सुनी। वह समय कब आयेगा जब इन वचनामृतों का भावरूप परिणमन होगा। ऐसे वचनामृत बार-बार देते रहें तो बहुत उपकार होगा।

पिड़ावा (राज०) से श्री सुरेन्द्रकुमारजी जैन लिखते हैं—

आत्मधर्म पढ़कर हृदय अत्यंत हर्षोल्लास से भर गया। जिस समयसार की ११वीं गाथा का अर्थ समझने के लिये बहुत समय से इच्छुका था, उसका वर्णन इस बार पढ़कर आनंद आ गया। आत्मधर्म के सभी प्रवचन हृदय को छूकर सीधी मन पर चोट करनेवाले हैं।

कारंजा से श्रीमती शांताबाई कानेड़ लिखती हैं—

उत्तम सत्यधर्म पर जो विश्लेषण किया वह अपूर्व प्रतिभासित हुआ है। 'अब हम क्या चर्चा करें ?' इस इन्टरव्यू ने तो अपनी हृदय की व्यथा बतलायी है।

मंडावरा (उ०प्र०) से श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन लिखते हैं—

आत्मधर्म के अंकों की ८ दिन पहले से ही प्रतीक्षा करता रहता हूँ। कारण आपका हर लेख पढ़ते समय आत्मविभोर कर देता है। जब अंक समाप्त हो जाता है, तब ऐसा लगने लगता है जैसे कोई चीज़ गुम हो गयी हो। जितनी बार पढ़ता हूँ, रहस्य की परतें खुलती जाती हैं।

मौ (म०प्र०) से श्री चक्रेशकुमारजी जैन लिखते हैं—

मैं पहिले आत्मधर्म की उपेक्षा करता था। परंतु जब से आपने इसका संपादन किया है, तब से ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मधर्म का नया अंक मुझे कब पढ़ने को मिले और मैं उसके पढ़ने का आनंद प्राप्त कर सकूँ। सितम्बर आत्मधर्म के संपादकीय में उत्तमसत्य को पढ़कर मुझको अपूर्व आनन्द प्राप्त हुआ। 'दृष्टि की डोरी चैतन्य से बाँध दे' पढ़कर मेरा अंधकारमय जीवन नष्ट हो गया।

बुलंदशहर (उ०प्र०) से श्री अनिलकुमारजी जैन लिखते हैं—

हमारे यहाँ आत्मधर्म हमारी याद से भी पहिले से लगातार आता है तथा पढ़ने का सौभाग्य भी प्राप्त होता है, परंतु विगत एक वर्ष से इसको अनेकों बार पढ़ने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है तथा मन को शांति मिलती है। पूज्य गुरुदेव से इन्टरव्यू लेकर आपने समाज में व्याप्त भ्रांतियों को दूर किया है।

प्रतापगढ़ (राज०) से श्री देवीचंदजी जैन लिखते हैं—

आत्मधर्म पढ़कर बड़े आनंद का अनुभव होता है। संपादकीय में उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य तथा शौचधर्म का बड़े ही सुंदर ढंग से वर्णन किया है। आगे के अंकों का इंतजार बना रहता है।

देहली से श्रीमती निशा मित्तल लिखती हैं—

आत्मधर्म पत्रिका बहुत पसंद आती है। इसका मुझे पूरे महीने बड़ी बेसब्री से इंतजार रहता है। प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित भजन का यदि अर्थ भी प्रकाशित करें तो आनंद दुगना हो जायेगा।

क्या आत्मधर्म ने आपके जीवन को भी बदल डाला है ?

विगत ३२ वर्षों से स्वामीजी के सद्विचारों ने हिन्दी आत्मधर्म के माध्यम से हजारों आत्मार्थियों का जीवन बदल दिया है। आत्मधर्म पढ़कर जिन जिज्ञासुओं को आध्यात्मिक रुचि उत्पन्न हुई हो और जीवन में नया मोड़ आया हो अथवा आत्मधर्म की जिन विशिष्ट पंक्तियों ने उनको अत्यधिक प्रभावित किया हो; यदि वे बंधु अपने तत्संबंधी विचार भेजेंगे तो हम उपयुक्त विचारों को यथासंभव प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे, किंतु वे २०० शब्दों से अधिक में नहीं होने चाहिए। —संपादक

प्रबंध संपादक की कलम से

कृपया निम्नलिखित सूचनाओं पर अवश्य ध्यान दें:—

(१) आत्मधर्म के ग्राहकों को भेंट में दी जानेवाली पुस्तक सोनगढ़ में छप रही है। पुस्तक छपते ही वह सोनगढ़ से ही सभी ग्राहकों को भेजी जावेगी। अत: इस संबंध में यहाँ किसी प्रकार का पत्र व्यवहार करने का कष्ट न करें।

(२) मराठी आत्मधर्म के लिये निम्न पते पर संपर्क स्थापित करें:—

प्रबंध संपादक, आत्मधर्म (मराठी), १७३/१७५, मुम्बादेवी रोड, बम्बई-४००००२

(३) आज-कल जयपुर में डाक के आने-जाने में भारी अव्यवस्था है। इस स्थिति में संभव है आपको आत्मधर्म के अंक विलंब से प्राप्त हो रहे हों। सूचनार्थ निवेदन है।

आवश्यक सूचना—मंदिरों, पुस्तकालयों, पूज्य मुनिराजों और त्यागियों को जिन-जिन के पोस्टेज हेतु टिकट प्राप्त हुए थे; उन्हें 'सत्य की खोज' और 'अर्चना' बुक-पोस्ट से दिनांक ६-१२-७७ तक भेजी जा चुकी हैं।

—प्रबंधक, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

आवश्यकता है एक ऐसे धर्म अध्यापक की जो बालकों को वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड की पाठ्य-पुस्तकें पढ़ा सके। पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रशिक्षित अध्यापक को प्राथमिकता दी जावेगी। वेतन योग्यतानुसार। आवास, पानी व बिजली की फ्री सुविधा रहेगी।

—मीठालाल मगनलाल दोशी

नया बाजार, हिम्मतनगर, जिला सांबरकांठा (गुजरात)

आवश्यकता है एक ऐसे धर्म अध्यापक की, जो बालकों को वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड की पाठ्य-पुस्तकें पढ़ा सके। पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रशिक्षित अध्यापक ही आवेदन करें। वेतन योग्यतानुसार। आवास तथा पानी की फ्री सुविधा रहेगी।

— धर्मचंद जैन, पोस्ट जयथल (जिला बूँदी-राज०)

नया प्रकाशन :

आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

लेखिका : **शुद्धात्मप्रभा**

१८ × २३/८ **साइज, पृष्ठ संख्या १००**

मूल्य : साधारण : दो रुपये, सजिल्द : तीन रुपये

शांति ही लाभदायक है

सम्माननीय पूज्य बहिनश्री चंपाबेन द्वारा समय-समय पर अभिव्यक्त विचार-बिन्दु जिज्ञासु पाठकों की सेवा में यहाँ प्रस्तुत हैं।

१. फोटो उतारने में चेहरे पर जैसे भाव होते हैं, अपने आप वैसे भाव कागज पर उतर आते हैं, कोई उतारने नहीं जाता। उसीप्रकार कर्म के उदयरूप चित्रकारी सामने आने पर समझना चाहिये कि मैंने जैसे भाव किये थे, वैसा ही यह चित्रण हुआ है। यद्यपि यह आत्मा कर्म में प्रवेश करके कुछ नहीं करता तथापि भावों के अनुरूप चित्रण स्वयं हो जाता है। अब दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमन कर तो संवर-निर्जरा होगी। आत्मा का मूलस्वभाव दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप हैं; उसका अवलंबन करने से द्रव्य में जो शक्तिरूप में पड़ा है, वह व्यक्तरूप में प्रगट होगा।

२. **बाहर से भक्ति उल्लास के कार्य होते हों, उसमें कहीं भी आत्मा का आनंद नहीं है। जो आनंद तल में से आये वही आनंद सच्चा है।**

३. आत्मा के शुद्ध स्वभाव में मानो विकार अंदर प्रविष्ट हो गये हों ऐसा दिखाई देता है; परंतु भेदज्ञान प्रगट करने पर वे ज्ञानरूपी चैतन्य-दर्पण में प्रतिबिम्बरूप ही हैं। ज्ञान-वैराग्य की अचिंत्य शक्ति से पुरुषार्थ की धारा प्रगट कर। यथार्थ दृष्टि करके ऊपर आ जा। चैतन्यद्रव्य निर्मल है। अनेक प्रकार के कर्म-उदय, सत्ता, अनुभाग तथा कर्म के निमित्त से होनेवाले विकल्प तेरे से अत्यंत भिन्न हैं।

४. **विधि और निषेध के विकल्प-जालों को छोड़। 'मैं बंधा हुआ हूँ', 'मैं बंधा हुआ नहीं हूँ'—ऐसे सभी विकल्पों को छोड़कर अंतर में जा; निर्विकल्प हो जा! निर्विकल्प हो जा!!**

५. जैसे स्वभाव से ही निर्मल स्फटिक में लाल-पीले फूल के संयोग से ही रंग दिखते हैं, तथापि स्फटिक रंगीन नहीं हो जाता; उसीप्रकार स्वभाव से ही निर्मल आत्मा में क्रोध-मानादि दिखते हैं, परंतु वास्तव में आत्मद्रव्य उनसे भिन्न है। वस्तुस्वभाव में मलिनता नहीं है। जैसे परमाणु पलटकर स्पर्श-रस-गंध-वर्ण रहित नहीं होता; उसीप्रकार वस्तुस्वभाव नहीं बदलता। यह तो पर से एकत्व तोड़ने की बात है। वास्तव में अंदर प्रवेश करे तो पर से पृथक् हो।

६. **देव-गुरु की वाणी और देव-शास्त्र-गुरु की महिमा—चैतन्यदेव की महिमा जागृत करने में, उसके गहरे संस्कार दृढ़ करने में तथा स्वरूप की प्राप्ति करने में निमित्त हैं।**

७. यह तो पंखी का मेला जैसा है। जो इकट्ठे हुए हैं, वे सब अलग हो जायेंगे। आत्मा एक शाश्वत तत्त्व है; अन्य सब अध्रुव है, बिखर जायेगा। मनुष्य जीवन में आत्मकल्याण कर लेना योग्य है।

८. **प्रत्येक प्रसंग में शांति-शांति और शांति ही लाभदायक है।**

Registration. No. RJ-2712

हमारे यहाँ प्राप्त प्रकाशन*

मोक्षशास्त्र	१२-००
समयसार	१२-००
समयसार पद्यानुवाद	०-७०
समयसार कलश टीका	६-००
प्रवचनसार	१२-००
पंचास्तिकाय	७-५०
नियमसार	५-५०
नियमसार पद्यानुवाद	०-४०
अष्टपाहुड़	१०-००
समयसार नाटक	७-५०
समयसार प्रवचन भाग १	६-००
समयसार प्रवचन भाग २	प्रेस में
समयसार प्रवचन भाग ३	५-००
समयसार प्रवचन भाग ४	७-००
आत्मावलोकन	३-००
श्रावकधर्म प्रकाश	३-५०
द्रव्यसंग्रह	१-५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०-४०
प्रवचन परमागम	२-५०
धर्म की क्रिया	२-००
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग १	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग २	१-५०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तर माला भाग ३	१-५०
तत्त्वज्ञान तरंगिणी	५-००
अलिंग-ग्रहण प्रवचन	१-६०
वीतराग-विज्ञान भाग ३ (छहढाला पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)	१-००
बालपोथी भाग १	०-६०
बालपोथी भाग २	प्रेस में
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	४-००
बालबोध पाठमाला भाग १	०-५०
बालबोध पाठमाला भाग २	०-७०
बालबोध पाठमाला भाग ३	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग १	०-७०
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग २	१-००
वीतराग-विज्ञान पाठमालाल भाग ३	१-००
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १	१-२५
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २	१-२५
जयपुर (खानियाँ) तत्त्वचर्चा भाग १ व २	३०-००

मोक्षमार्गप्रकाशक		प्रेस में
पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व		१०-००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ		५-००
" " (पॉकेट बुक साइज में हिन्दी में)		२-००
मैं कौन हूँ?		१-००
तीर्थंकर भगवान महावीर		०-४०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर		०-२५
अपने को पहचानिए		०-५०
अर्चना (पूजा संग्रह)		०-४०
मैं ज्ञानानंद स्वभावी हूँ (कैलेंडर)		०-५०
पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य		०-६५
कविवर बनारसीदास : जीवन और साहित्य		०-३०
सत्तास्वरूप		१-७०
सुंदरलेख बालबोध पाठमाला भाग १		प्रेस में
अनेकांत और स्याद्वाद		०-३५
युगपुरुष श्री कानजीस्वामी		१-००
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका		३-००
सत्य की खोज (भाग १)		२-००
आचार्य अमृतचंद्र और उनका पुरुषार्थसिद्धयुपाय	साधारण :	२-००
	सजिल्द :	३-००

Licence No.
P. P. 16-S.S.P. Jaipur City Dn.
Licensed to Post
Without Pre-Payment

If undelivered please return to :
प्रबन्ध-संपादक, आत्मधर्म
ए-४, टोडरमल स्मारक भवन, बापूनगर
जयपुर ३०२००४